इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MSK-005

वैदिक वाङ्मय एवं भारतीय संस्कृति और सभ्यता

खंड

4

निरुक्त (अध्याय एक और अध्याय दो का प्रथम पाद)

खण्ड 4 परिचय

MSK-005 वैदिक वाङ्मय एवं भारतीय सभ्यता और संस्कृति पाठ्यक्रम का यह चतुर्थ खण्ड है। इस खण्ड में आप निरुक्त के अध्याय एक एवं दो के प्रथम पाद का अध्ययन करेंगे। इस खण्ड की 14वीं इकाई पदों के विभाग नामाख्यात लक्षण, मन्त्रों की अर्थवत्ता आदि से सम्बन्धित है। पदों के चार विभाग हैं – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन चतुर्विध विभागों का आप इस इकाई में विस्तृत अध्ययन करेंगे। इसके साथ ही शाकटायन, गार्ग्य, वार्ष्यायणि आदि आचार्यों के मतों को भी इस इकाई में स्पष्ट किया गया है। 15वीं इकाई में आप निरुक्त के प्रयोजन यथा अर्थज्ञान, पदविभाग, देवता आदि से परिचित होंगे। यास्क ने निर्वचन के कुछ सामान्य एवं कुछ विशिष्ट सिद्धांतों का वर्णन किया है जिसका अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे। इस खण्ड की 16वीं इकाई निपात निरूपण से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत आप निपात का लक्षण, उनके विभाग यथा उपमार्थक, अर्थोपसंग्रहार्थक, पादपूरक का अध्ययन करेंगे। इस खण्ड की 17वीं इकाई शब्दों की निरुक्तियों से सम्बन्धित है। यास्क ने शब्दों का निर्वचन किया है। इस इकाई में कुछ प्रमुख शब्दों यथा अग्नि, आचार्य, गो, मेघ आदि का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है।

इस खण्ड की प्रत्येक इकाई में इकाई से सम्बन्धित कठिन शब्दावली दी गई है जिनका अर्थ जानना आपके लिए नितान्त अपेक्षित है, इन शब्दों का अर्थ जानकर आप अपने भाषिक सामर्थ्य में वृद्धि कर सकते हैं। इकाइयों के अन्त में उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गयी है। आप इन पुस्तकों का अध्ययन कर सम्बन्धित विषय की और अधिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

शुभकामनाओं के साथ।

इकाई 14 पदों का चतुर्विध विभाग, नामाख्यात लक्षण, शब्दनित्यत्वानित्यत्व विचार, षड्भावविकार, मन्त्रों की अर्थवत्ता

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- निरुक्त तथा निरुक्त के विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- निरुक्त के पदविभागों को समझ सकेंगे।
- नामाख्यात के लक्षण तथा उपसर्ग निपात के लक्षण और अर्थों को समझ सकेंगे।
- शब्दानित्यत्व नित्यत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- क्रिया के षड्भावविकार को जान सकेंगे।
- मन्त्रों की अर्थवत्ता को समझ सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

निरुक्त निर्वचनप्रधान शास्त्र है, जिसमें महर्षि यास्क ने बहुत से वैदिक मन्त्रों की व्याख्या नवीन शैली में प्रस्तुत की है। आचार्य सायण के अनुसार **'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्त तन्निरुक्तम्'** अर्थ ज्ञान के लिये स्वतन्त्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है वही निरुक्त है। निरुक्त में निघण्टु के कहे गये वैदिक शब्दों की व्याख्या की गयी है, इसे निघण्टु का भाष्य भी कहते हैं। निघण्टु में केवल शब्दों का संकलन है। महाभारत में प्रजापति कश्यप को निघण्टु का कर्ता स्वीकार किया है परन्तु कुछ आचार्य यास्क को ही निघण्टु का रचयिता मानते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय देवराज यज्वा को निघण्टु का रचयिता स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वान् मानते हैं कि निघण्टु पृथक्-पृथक् विद्वानों की रचना है।

निरुक्त के प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद तक निरुक्त की भूमिका वर्णित है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में निघण्टु का लक्षण पदों के भेद, भाव के विकार, शब्दों का धातुज सिद्धान्त और निरुक्त की उपयोगिता वर्णित है। द्वितीय अध्याय में निर्वचन के सिद्धान्त और निरुक्त की उपयोगिता वर्णित है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में निर्वचन के सिद्धान्त, निघण्टु के शब्दों की व्याख्या, द्वितीय पाद से सप्तम पाद तक ऋचाओं के उद्धरण देकर अनेक शब्दों के निर्वचन प्रस्तुत किये हैं। तृतीय अध्याय में भी नैघण्टुककाण्डगत पदों का निर्वचन किया गया है। चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों में नैगमकाण्डगत शब्दों का विचार किया गया है। सातवें से बारहवें अध्यायों में दैवतकाण्ड के शब्दों का विचार किया गया है। यास्क के मतानुसार व्याकरण की परिपूर्णता निरुक्त में आकर होती है। निरुक्त के आधार पर वेद व्याख्या विषयक अनेक सम्प्रदायों, आचार्यों तथा उनके विविध मतों का ज्ञान होता है। इस इकई में आप पदों का चतुर्विधविभाग, नामाख्यात-उपसर्ग निपात के लक्षण, शब्दनित्यत्वानित्यत्व विचार, षड्भावविकार, मन्त्रों की अर्थवत्ता इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

14.2 पदों का चतुर्विध विभाग

महर्षि यास्क प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोग को ही पद विभाग का आधार मानते हैं। जाति, गुण और यदृच्छा वाचक शब्दों में सत्व की प्रधानता ही प्रवृत्ति-निमित्त है। अतः इन तीनों प्रकार के शब्दों को यास्क ने नाम वर्ग में माना है। सत्व के लिये प्रयुक्त शब्द नाम ही है। क्रिया को प्रकट करने वाले शब्दों को आख्यात नाम दिया है तथा इनमें भाव की प्रधानता बताई है। अव्यय पदों में से नाम और आख्यात से संयुक्त होकर अर्थ बोध कराने वाले शब्दों को उपसर्ग तथा शेष अव्यय पदों को निपात की संज्ञा से अभिहित किया है। यास्क की दृष्टि में मुख्य रूप से पदों के दो विभाग हैं– दृष्टव्यय तथा अव्यय इन्हीं को महर्षि यास्क ने गौण रूप में चार विभागों में विभक्त करते हुये कहा है – **तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानि इमानि भवन्ति (निरुक्त 1.1.1), चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च (म. भा. पस्पशाह्निक)** इस प्रकार निरुक्त और महाभाष्यादि में चार प्रकार के पद स्वीकार किये गये हैं। इस सन्दर्भ में वाक्यपदीयकार ने कहा है –**द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्।।** (वा. प. 3.1.1) अर्थात् कुछ आचार्य नाम और आख्यात इन दो को पद मानते हैं, कुछ नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात इन चार को पद मानते हैं जबकि कुछ इन चारों के साथ-साथ कर्मप्रवचनीय को भी पद मानते हैं। पाणिनि अपने पदलक्षण **'सुप्तिङन्तं पदम्'** (पा. 1.4.14) के द्वारा सुबन्त और तिङन्त को ही पद मानते हैं। यास्क के कथानानुसार **'नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतकाः'** (नि. 1.1.4) अर्थात् निपात और उपसर्ग नाम और आख्यात के साथ संयुक्त होकर उनके अर्थ का द्योतन करते हैं।

पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त को पद माना है तथा निपात और उपसर्ग का स्वरूप अलग से प्रतिपादित किया है। उन्होंने 'चादयोऽसत्वे' (पा. 1.4.57) लक्षण के द्वारा निपात उसी को माना है जो असत्व हो सत्ववाची न हो। असत्व इस निषेध में प्रसज्यप्रतिषेध है। निरुक्त में **'सत्त्वप्रधानानि नामानि'** (नि. 1.1.1) कहा गया है अर्थात् नाम सत्वप्रधान होता है। अतः निपात को नाम से पृथक् ही माना गया है। प्रादि ऐसे निपात हैं जो क्रिया के योग में कभी उपसर्गसंज्ञा को प्राप्त होते हैं। कभी किसी अन्य अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा को प्राप्त होते हैं। मूलतः वे अपनी प्रकृति में निपात ही होते हैं। अतः उन्हें निपात के अन्तर्गत माना जा सकता है परन्तु उनको पृथक् मानना

चाहिये, अन्यथा प्रादियों की तरह चादि की भी उपसर्गसंज्ञा होने लग जायेगी इसीलिये निपात और उपसर्ग को पृथक् माना है।

नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात इन चारों का भाषा में अपना महत्त्व है किन्तु पाणिनि के **'सुप्तिङन्तं पदम्'** से ही नाम आख्यात उपसर्ग निपात का ग्रहण हो जायेगा, यह कहना ठीक नहीं है। भाषा में सुबन्त और तिङन्त पदों का प्रयोग जितना विस्तृतरूप से होता है, उतना उपसर्ग निपात का नहीं होता है इसीलिये महर्षि पाणिनि के नाम और आख्यात को ही पद के अन्तर्गत माना है। इस विषय में कपिलदेव द्विवेदी ने कहा है कि, 'तात्त्विक दृष्टि से नाम और आख्यात से दो ही पद के मुख्य विभाग हैं, अतएव पाणिनि ने **'सुप्तिङन्तं पदम्'** सूत्र में पद को सुबन्त और तिङन्त (नाम और आख्यात) इन दो भागों में ही विभक्त किया है। निरुक्तकार, महाभाष्यकारादि ने प्रयोग की दृष्टि से चारों को पद माना है।

14.3 नामाख्यात उपसर्ग निपात लक्षण

'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' कहकर पदों के चार विभाग बता देने के अनन्तर यास्क ने उनके लक्षण भी बताये हैं। पद विभाग के क्रम में यास्क ने नाम को सबसे पहले कहा है, परन्तु लक्षण बताते हुये वे सर्व आख्यात का लक्षण स्पष्ट करते हैं। दुर्ग अचार्य इसका कारण **'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि'** सभी नाम आख्यातज हैं यह स्वीकार करते हुये नाम से पूर्व आख्यात के लक्षण किये जाने की सम्भावना व्यक्त की है। इसके अतिरिक्त विद्वानों द्वारा एक तर्क और माना जाता है कि वर्णानुक्रम में अल्पाक्षर वाले पद की गणना पहले की जाती है, परन्तु निपात को अन्त में रखने से इस सम्भावना का परिहार हो जाता है। अतः पूर्वोक्त मत ही स्वीकार किया जा सकता है।

नाम – जब क्रिया मूर्तरूप धारण कर लेती है और सिद्ध हो जाती है तब नाम कहलाती है– **'मूर्त सत्वभूतं सत्वानामभिः व्रज्या पंक्तिरिति'** (नि. 1.1) निरुक्त के अनुसार **'सत्वप्रधानानि नामानि'** (1.1) जिसमें सत्व की प्रधानता हो वह नाम होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार जिन शब्दों में लिंग संख्या का सखाव हो अर्थात् सत्ता हो वही नाम कहलाता है। दुर्गाचार्य ने नाम शब्द की तात्त्विक व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुये कहा है कि ''जो आख्यात शब्द में गौण भाव से समर्पित रहते हैं वे नाम कहलाते हैं। नागेशभट्ट की दृष्टि में जो आख्यात में विशेषणभूत होकर स्थित रहता है वह नाम कहलाता है। नाम शब्द से जहाँ सत्त्व का कथन है, वहाँ लिंग और संख्या अवश्य अन्वित रहेंगे। सत्व ही द्रव्य का उपलक्षक है अर्थात् जिसके उच्चारण करने से गौ, पुरुष, अश्व, हस्ती इत्यादि किसी द्रव्य का बोध हो वह नाम कहलाता है। व्याकरणशस्त्र में ऐसे शब्दों की **'अर्थवद्धातु..' (पा. 1.245)** सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिकसंज्ञक होने के कारण उनसे **'स्वौजस्मौट्..' (पा. 4.1.2)** सूत्र से सु आदि 21 विभक्ति संज्ञक प्रत्ययों की प्रवृत्ति होती है। स्वादि प्रत्ययों के संयुक्त होने से ही वे शब्द प्रयोग के योग्य होते हैं। जब तक शब्द विभक्तिरहित है तब तक वह नाम है, विभक्ति से संयुक्त होने पर वह सुबन्त बन गया और उसकी पदसंज्ञा हो जाती है। शब्दशक्तिप्रकाशिका में भी नाम के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रतिपादन के अनुसार भी नाम शब्द प्रातिपदिक का ही बोधक है तथा जिसमें स्व अर्थ को प्रतिपादित करने के लिये प्रथमादि विभक्तियों की आवश्यकता होती है वह नाम

कहलाता है। इस प्रकार नाम को सत्व, द्रव्य तथा प्रातिपदिक आदि नामों से जाना जाता है।

आख्यात – आख्यात = अस+ख्या+क्त का मूल अर्थ जो कहा जा चुका है। ऋक्प्रातिशाख्य में आख्यात का लक्षण इस प्रकार है –**'तदाख्यातं येन भावं स धातुः'** (ऋ.प्राति. 12.19)। निरुक्त में यास्क का वचन है –**'भावप्रधानमाख्यातम्'** (नि. 1.1.1) आख्यात (तिङन्तपद) भाव प्रधान होता है। आरम्भ से लेकर अन्त तक होने वाली क्रिया जैसे – 'जाता है' क्रिया में पैर बढ़ाने से लेकर लक्ष्य तक पहुंचने वाली क्रिया का पूरा उपक्रम भाव कहलाता है। **'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे, व्रजति पचतीत्युपक्रप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम्' (नि. 1.1)।** तिङन्त पद क्रियाबोधक धातुओं से सम्बद्ध होते हैं। अतः भाव का अर्थ क्रिया ही होगा। यास्क ने वार्ष्यायणि के मत को दिखाते हुये कहा है कि भाव के छः प्रकार होते हैं।

निरुक्तकार आख्यात शब्द से तिङन्त पद अर्थ लेते **हैं 'चत्वारिपदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' (नि. 1.1)**। इस निरुक्त वचन में भी आख्यात का आशय तिङन्त से ही है परन्तु नैयायिक केवल तिङ् को आख्यात कहते हैं। यास्क अपने मत के समर्थन में महाभाष्य में शाकटायन के नामोल्लेख के साथ आख्यातज के स्थान पर उसकी व्याख्या के लिये धातुज शब्द का प्रयोग करते हैं। निरुक्त में कहे गये **'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च' (नि. 1.12)** की व्याख्या करते हुये महाभाष्य में **'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य तोकम्' (म. भा. 3.3.1)** कहा है परन्तु इस मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता क्योंकि यास्क ने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं आस्ते शेते, व्रजति, तिष्ठति इत्यादि ये क्रिया पद हैं न की धातु मात्र, यदि यास्क को आख्यात से धातु पद अभिप्रेत होता तो वे उदाहरण में धातुओं का निर्देश करते तिङन्त पदों का नहीं। अतः शाकटायन के अनुसार नाम आख्यातज हैं धातुज नहीं, ऐसा समझना चाहिये। शाकटायन के कथन का प्रधान अर्थ यह है कि यास्क नामपद अर्थात् वस्तु की संज्ञा को उस वस्तु की क्रिया के कारण पड़ा मानते हैं जैसे –**प्रथनात्पृथिवी, पाजः पालनात्** इत्यादि। व्याकरण में क्रिया धातु से ही कही जाती है, अतः महाभाष्यकार ने अपने शास्त्र को दृष्टि में रखकर धातुज हैं, यह कहकर आख्यातज का अभिप्राय स्पष्ट किया है। इससे आख्यात शब्द मात्र धातु का पर्याय नहीं माना जा सकता है। यास्क ने पृथिवी का निर्वचन करते हुये पृथिवी का नाम पड़ने का आधार 'प्रथ्' धातु को नहीं माना अपितु प्रथन क्रिया रूप व्यापार को माना है। इससे यह संकेत मिलता है कि यास्क नामकरण का आधार क्रिया को मानते हैं। इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुये यास्क कहते हैं कि – ऐसा देखा जाता है कि एक ही कर्म करने वालों में भी कुछ का नाम उसके कारण पड़ता है, कुछ का नहीं पड़ता है जैसे – तथा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज इत्यादि। कई बार बाद में होने वाले भाव (क्रिया) के कारण पहले उत्पन्न द्रव्यों के नाम पड़ जाते हैं कुछ के नहीं ये सब निरुक्त 1.14 में कहा गया है। इसी प्रकार समझाते हुये आगे यास्क कहते हैं **'तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि। नानाकर्मणि चेन्नानानिर्वचनानि' (नि. 2.7)** अर्थात् जब एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं तो जिन द्रव्यों की एक समान क्रिया होती है, उनके निर्वचन भी उस क्रिया के कारण समान ही होते हैं। यदि क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं तो निर्वचन भी भिन्न-भिन्न ही करने चाहिये। अतः आख्यातज का अर्थ यही है कि यदि कोई शब्द किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्ध होता है तो अर्थ भी किसी विशेष क्रिया के कारण ही होता है। नामकरण की

आधारभूत प्रेरणा क्रिया विशेष से ही मिलती है। नामपद की सिद्धि में धातुओं की सहायता अवश्य स्वीकार की जाती है।

वैयाकरण आख्यात पद से आतु और तिङन्तपद दोनों अर्थ लेते हैं। 'तत्पुरुष समास' के **'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये'** इस वार्तिक में आख्यात पद का वाच्यार्थ तिङन्तपद माना गया है। पाणिनि **'आख्यातोपयोगे'** (पा. 1.4.29) इत्यादि सूत्रों में आख्यात पद का प्रयोग करते हैं। महाभाष्यकार आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में करते हुये कहते हैं –**'क्रियाप्रधानमाख्यातं भवति'** (म. भा. 5.3.66)। भाष्य का आख्यात पद से धातु अर्थ स्वीकार करने वाला मत पहले प्रस्तुत कर चुके हैं। भर्तृहरि–**'जन्मादिक्रिया आख्यातपदनिबन्धना'** (वा. 1.13) ऐसा कहकर आख्यात का क्रिया प्रधान ही स्वीकार करते हैं। आख्यात कर्ता, कर्म, भाव, कर्मकर्ता इन चार रूपों में देखा जाता है। पठति जैसे शब्दों में कर्ता अभिप्रेत है। पठ्यते, आस्यते एवं भिद्यते काष्ठं स्वयमेव जैसे स्थानों में क्रमशः कर्म, भाव एवं कर्मकर्ता अभिप्रेत है।

उपसर्ग – उप उपसर्गपूर्वक सृज् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर उपसर्ग शब्द बनता है। उप का अर्थ है समीप या लघु रचना, अतः शब्दार्थ हुआ समीप सर्जन या लघु रचना। यह पदों का तृतीय विभाग वैयाकरणों में अति प्रसिद्ध था। अतः यास्काचार्य ने उपसर्ग का लक्षण या अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने लिखा है–**न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः इति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्' (नि. 1.3)** अर्थात् नाम और आख्यात से असम्बद्ध उपसर्ग निश्चय ही अर्थों को नहीं बताते ऐसा शाकटायन का मत है किन्तु नाम और आख्यात से जुड़कर वे अर्थ विशेष के द्योतक होते हैं। गार्ग्याचार्य के मत में उपसर्ग बहुविध अर्थों को प्रकट करते हैं। वे उपसर्ग नाम और आख्यात के अर्थ को स्पष्टता से बताते हैं।

पं. भगवद्दत्त ने प्रश्न किया कि उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता तो उनकी पदसंज्ञा कैसे हुई? अतः शाकटायन का मत मूलरूप से अर्थात् अतिभाषा या वेद वाक् के सम्बन्ध में सत्य नहीं है। हाँ उत्तरकाल में लोक भाषा में उपसर्गों का क्रिया के साथ प्रयोग होने लगा, पूर्वकाल में उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग भी होता था, अतः उनका स्वतन्त्र अर्थ भी होता था वेदमन्त्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्पसूत्रों तक में इनका स्वतन्त्र प्रयोग मिलता है, यथा–**'तदेवाभि यज्ञगाथा गीयते'** (ऐतरेय 2.21) **'प्रैव जायन्ते'** (आ. श्रो. 23.2.9) यास्काचार्य उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ मानते थे और उन्होंने प्रत्येक उपसर्ग का अर्थ भी लिखा है।

यास्काचार्य ने उपसर्गों की संख्या बीस लिखी है– आ, प्र, परा, अभि, प्रति, अति, सु, निर्, दुर्, नि, अव, उत्, सम्, वि, अप, अनु, अपि, उप, परि, अधि। पाणिनि के मत में उपसर्गों की संख्या 22 है उन्होंने निस् और नि्र तथा दुस् और दुर् को पृथक्-पृथक् उपसर्ग माना है जो सन्धि के कारण ऐसे हैं यदि इन दोनों को एक ही माना जाये तो वस्तुतः 20 ही उपसर्ग बनते हैं। जब धातु के साथ इनका सम्बन्ध होता है तभी वे उपसर्ग कहलाते हैं, यथा– अनुगच्छति, संतिष्ठते इत्यादि। जब इनका नाम के साथ सम्बन्ध होता है तो उनकी निपात संज्ञा होती है, यथा– निष्कौशाम्बिः, प्रपर्णः, प्राध्यापक इत्यादि। पाणिनि ने उपसर्ग के लिये गति और कर्मप्रवचनीय इन दो नामों का प्रयोग किया है।

उपसर्गों के अर्थ विषय में शाकटायन और गार्ग्य इन दो साम्प्रदायिक प्रतिनिधियों के मत पहले कह चुके हैं। प्रातिशाख्यकार शौनक और कात्यायन के अनुसार उपसर्ग को **'क्रिया वाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्'** (ऋ. प्रा. 15.25) **'उपसर्गो विशेषकृत्'** (वाज. प्रा. 8.54) उपसर्ग धातु के अर्थ में विशेषता उत्पन्न कर देते हैं। जैसा कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने लिखा है–**उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः। प्रभवति, पराभवति, सम्भवति, अनुभवति, अभिभवति, उद्भवति, परिभवति इत्यादौ विलक्षणार्थावगतेः। उक्तञ्च– उपसर्गेण धात्वर्थो बलादयन्न नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्।।** (सि. कौ. तिङन्त प्रकरण) उपसर्ग अर्थ विशेष के द्योतक हैं जैसे– प्रभवति, पराभवति इत्यादि भू धातु में तथा प्रहार, संहार, विहार, परिहार आदि हृ धातु में विशेष अर्थ के द्योतक हैं। जैन शाकटायन धातुवृत्ति में श्लोक है–**धात्वर्थः बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते। तमेव विशिनष्ट्युपसर्गगतिस्त्रिधा।** अर्थात् उपसर्ग की गति तीन प्रकार से होती है, कहीं धात्वर्थ में नवीन अर्थ कहीं उसका अनुसरण और कहीं उस धात्वर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न करना है।

अतः पाणिनि और अनेक सम्प्रदायों के आचार्य उपसर्गों के अर्थ मानते हैं। यास्क ने निश्चय ही उपसर्गों का अर्थ निर्देश किया है। यद्यपि धातु के साथ लगाने से उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु यास्क ने उपलक्षणार्थक केवल एक ही अर्थ एक उपसर्ग का अभिहित किया है–

(1) 'आ' उपसर्ग जबकि इधर के अर्थ में है, अर्थात् निकट या पास के अर्थ में। (2) प्र और (3) परा उपसर्ग धात्वर्थ को पृथक् दूर या विपरीत ले जाते हैं, यथा पराजयते। (4) अभि यह अभिमुख्य अर्थात् सामने के अर्थ में प्रयुक्त होता है (5) प्रति यह अभि के विपरीत अर्थ को प्रकट करता है, यथा– प्रति गच्छति दूसरी ओर जाना। (6) अति और (7) सु ये पूजा या सम्मान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, यथा सुपूजयति, अतिपूजयति। (8) निर् और (9) दुर् उपसर्ग निन्दार्थ में आते हैं, यथा दुर्गच्छति। (10) नि और (11) अव उपसर्ग नियमन, शासन या अवग्रह के अर्थ में हैं, यथा–निषीदति, अवसीदति। (12) उत् उपसर्ग नियमन के विपरीत अर्थ में है यथा– उत्तिष्ठति, उद्गच्छति, उत्क्रमते जैसा कि पाणिनि के सूत्र से भाव निकलता है–**'उदोऽनूर्ध्व कर्मणि'** (पा. 1.3.34) उत् उपसर्ग प्रायः उर्ध्वकर्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है। (13) सम् उपसर्ग एकीभाव के अर्थ में आता है यथा– संगम, संज्ञान, सम्भव इत्यादि में (14) वि और (15) अप, सम् के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, यथा–अपराध्यते, विराध्यते इत्यादि में (16) अनु उपसर्ग अनुकूल या समानता या अनुगमन के अर्थ में होता है, यथा– अनुहरति, अनुमोदते में (17) अपि उपसर्ग सम्बन्ध या संसर्ग को बताता है, अपिदधति, अपिधारयति, अपिश्रृणोति इत्यादि में (18) उप उपसर्ग समीपता अर्थ में बहुलता से प्रयुक्त होता है, यथा– उपभुङ्क्ते, उपबध्नाति इत्यादि में, कहीं-कहीं अधिकता अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, यथा उपजायते में। (19) परि उपसर्ग सर्वताभाव या चतुर्दिक् स्थिति में अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा– परिणमते, परिगच्छति, परिव्रजति इत्यादि में (20) अधि उपसर्ग उपरिभाव या अधीश्वरभाव को बतलाता है, यथा– अधितिष्ठति, अधीते, अधिरमते इत्यादि में, इनके अतिरिक्त श्रत्, अन्तः, क्रमशः, सत्य ये अन्दर और स्वच्छता के अर्थ में आते हैं।

निपात – निपात शब्द नि+पत्+घञ् से निष्पन्न होता है। अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण कुछ शब्द निपात कहलाते हैं। ये शब्द भाव प्रधान न होने के कारण आख्यातों में तथा सत्व प्रधान न होने के कारण नामों में एवं नाम और आख्यात से जुड़े बिना ही अर्थाभिधान करने के कारण उपसर्गों में सम्मिलित नहीं किये जा

सकते। अतः इनकी अपनी एक पृथक् श्रेणी है वाक्य में कारक आदि सम्बन्ध की अपेक्षा किये बिना ही जहाँ चाहे निपातित होने के कारण ये पद निपात कहलाते हैं।

महर्षि यास्क निपातों के विषय में कहते हैं– **अथ निपातः, उच्चावचेषु अथेषु निपतन्ति। अप्यपमार्थे। अपि कर्मोपसङ्ग्रहार्थे। अपि पदपूरणः'** (नि. 1.4) तात्पर्य यह है कि महर्षि यास्क के मतानुसार वे पद निपात हैं जो कभी उपमा के अर्थ में, कभी कर्मोपसंग्रह के अर्थ में, तो कभी पदपूरण के लिये वाक्य में आवश्यकतानुसार प्रयोग किये जाते हैं। महर्षि यास्क ने इनके स्वतन्त्र अर्थ भी दिये हैं तथा उनसे सम्बन्धित नियमों द्वारा अपनी बात को प्रामाणित भी किया है। महर्षि यास्क के वर्णनानुसार यह स्पष्ट है कि यास्क के समय तक लौकिक और वैदिक भाषाओं में भारी अन्तर आ चुका था, परिणामस्वरूप एक ही निपात लोक और वेद में कभी भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक था तो कभी एक ही अर्थ का वाचक था, यथा–**'तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां चान्वध्यायं च। अग्निरिव** (ऋ 10.84.2) **इन्द्रं इव** (ऋ 10.17.3) **इति। नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्।** (नि. 1.4) यहाँ इव लोक और वेद दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है। उदाहरणस्वरूप यास्क कहते हैं– **'नेन्द्रं देवममंसत'** (ऋ 10.86.1**) इति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति। दुर्मदासो न सुरायाम्** (ऋ. 8.2.12) **इत्युपमार्थीयः** (नि. 1.4)। इसके साथ ही कुछ निपातों को अनेक कर्मा भी कहते हैं, यथा– **चिदित्येषोऽनेककर्मा'** (नि. 1.4)

आचार्य कौटिल्य ने निपात के लक्षण को स्पष्ट करते हुये लिखा है–**'अव्ययाश्चादयो निपातः'**। कौटिल्य की यह परिभाषा पाणिनि व्याकरण के सूत्र **'स्वरादिनिपातमव्ययम्'** (पा. 1.1.37) का पिष्टपेषण मात्र ही प्रतीत होती है। आचार्य भर्तृहरि ने इसे स्पष्ट करने के लिये कहा है–**'निपाता द्योतका केचित् पृथगर्थाभिधायिनः। आगमा इव केऽपि स्युः सम्भूयार्थस्य वाचकाः।।** (वा. प. 2. 192) इस प्रकार निपात लक्षण के सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मदभेद हैं। निपात की सही परिभाषा दे पाना बहुत कठिन कार्य है। पाणिनि ने भी कदाचित् इसी कारण से निपात का लक्षण न देकर इसका प्रतिपद परिगणन करना ही उचित समझाा। अतः निपात के विषय में इतना मान लेना पर्याप्त है कि ये अव्यय हैं किन्तु इसका ये अर्थ कदापि न समझना चाहिये कि समस्त अव्यय निपात हैं। महर्षि यास्क के निरुक्तशास्त्र में ही निपात पद का प्रयोग अनेकधा वैदिक देवविद्या के आचार्य प्रधान देवता के साथ गौणरूप में स्तुत देवताओं को निपात देवता या नैपातिक देवता की संज्ञा से अभिहित किया है। इतना ही नहीं किसी गौण वस्तु के लिये निपात शब्द का उन्मुक्त प्रयोग दृष्ट है।

महर्षि यास्क के कथन से स्पष्ट है कि निपात भी सार्थक वर्ण समुदाय हैं और उन्होंने इन्हें तीन भागों में विभाजित किया है – 1. उपमार्थक 2. कर्मोपसङ्ग्रहार्थक 3. पादपूरणार्थक।

1. **उपमार्थक निपात** – इव, न, चित् तथा नु उपमार्थ में प्रयुक्त होते हैं। इव लौकिक व वैदिक दोनों स्थानों पर उपमा अर्थ में प्रयुक्त होता है। ये चारों निपात वेद में ही उपमार्थक रूप में प्रयुक्त होते हैं, यथा– **अग्निरिव मन्यो (ऋ. 10.8. 2)।**

न – लोक में निषेधात्मक तथा वेद में उपमा व निषेध दोनों अर्थों में प्रयुक्त है, यथा **'नेन्द्र देवम् अमंसत'** (ऋ. 10.86.1) निषेध अर्थ में तथा न का प्रयोग बाद में

आने पर **'दुर्मदासो न सुरायम्'** (ऋ. 8.2.12) उपमार्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'चित्'– अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा–**'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्'** यहाँ सम्मानार्थक है। **'दधिचित्'** यहाँ उपमानार्थक है। **'कुल्माषांश्चिदाहर'** यहाँ निन्दार्थक है। इसी प्रकार हेतु के प्रयोग में, अनुप्रश्न में उपमार्थ में आदि अनेक अर्थों में 'नु' का भी प्रयोग होता है।

2. **कर्मोपसङ्ग्रहार्थक निपात** – महर्षि यास्क के मतानुसार–**'अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते, नत्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः'** (नि. 1.4) अर्थात् जिसके आगम से वस्तु के पृथक्त्व का बोध होता है परन्तु जो उद्दिष्ट वस्तु यथा– देवदत्त इत्यादि के समान नहीं होता अपितु विग्रह से ही जाना जाता है वह कर्मोपसंग्रहार्थक निपात है। ये निपात दो या दो से अधिक सामासिक पदों के मध्य आकर अर्थों या धातुओं की भिन्नता को निश्चित रूप से सूचित करते हैं। इसमें च, वा, अह, ह, किल, हि, ननु, खलु, शाश्वतम्, नूनम् इत्यादि निपात आते हैं, यथा– अहञ्च त्वं च वृत्रहन् (ऋ. 7.72. 51)

3. **पादपूरणार्थक निपात** – इनको निरर्थक निपात भी कहते हैं। इन निपातों में उन निपातों का ग्रहण किया जा सकता है जो किसी पद्य या गद्य में मात्र वाक्यपूर्ति अर्थात् वाक्यालंकार के लिये प्रयुक्त होते हैं। वही निपात जब मित अक्षर वाले अर्थात् किसी छन्दोबद्ध ग्रन्थ में आते हैं तब भी मात्र पादपूर्ति या छन्द पूर्ति ही इनके प्रयोग का प्रयोजन होता है। इस प्रकार के निपात जो गद्य या छन्द में मात्र वाक्य पूर्ति अथवा छन्द पूर्ति के लिये प्रयोग किये जाते हैं, वस्तुतः अनर्थक ही होते हैं। महर्षि यास्क ने इस प्रकार के निपातों की संख्या चार बताई है– कम्, ईम्, इत्, उ ये भी जब इनका अर्थ करना सम्भव न हो अर्थ सूक्षम हो वाक्यार्थ में इनके अर्थ से कोई विशेष उपकार न होता हो, तभी अनर्थक होते हैं। यदि सम्भव हो तो ये भी अर्थवान् ही रहते हैं। अर्थ की सम्भावना न होने पर **'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** न्याय से पादपूर्ति ही इनका एकमात्र प्रयोजन माना जाता है। यास्क के अनुसार इव, खलु, नूनम् और सीम् भी यथा आवश्यकता पादपूरणार्थक होते हैं।

शब्द धतुज हैं या अधातुज – भाषा में प्रयुक्त होने वाले सभी नाम धातुज हैं या उनमें से कुछ ही धातुज हैं। यह भाषाशास्त्र का बहुत बड़ा प्रश्न था। इस विषय में यास्क ने निरुक्त के प्रथम अध्याय के खण्ड 12 में विस्तार से इस सिद्धान्त की विवेचना की है। तदनुसार मुख्यरूप से शाकटायन और गार्ग्य के मतों का उल्लेख किया है। **'तत्र नामाख्यातजानि इति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्य।'** (नि. 1.12) वैयाकरणों में शाकटायन तथा निरुक्त के आचार्यों का मत है कि सभी शब्द धातु से निष्पन्न हैं। महाभाष्यकार ने भी **'उणादयो बहुलम्'** (पा. 3.3.1)। सभी इस मत का उल्लेख किया है **'नाम च धतुजमाह व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'** (म. भा. 3.3.1)। सभी नाम धातुज हैं गार्ग्य इस मत से सहमत नहीं हैं, उनके अनुसार सभी शब्द धातु से निष्पन्न नहीं हैं जैसा कि यास्क कहते हैं– **'न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणां चैके'** (नि. 1.12)। सभी नाम पदों को आख्यातज मानने के सिद्धान्त के विरुद्ध आचार्य यास्क ने गार्ग्य पक्ष की ओर से आपत्तियाँ प्रदर्शित की हैं तथा उनका यथाक्रम युक्तिशः समाधान भी शाकटायन पक्ष की ओर से किया है। इससे प्रतीत होता है कि वैयाकरण शाकटायन तथा निरुक्त सम्प्रदाय के सभी आचार्य प्रायः प्रथमवाद के पोषक हैं तथा आचार्य गार्ग्य द्वितीय सम्प्रदाय के पोषक हैं।

महर्षि यास्क नैरुक्त होने के कारण नामान्याख्यातजानि पक्ष के अनुयायी हैं तथा सभी शब्दों को धातु से निष्पन्न मानते हैं। गार्ग्य शब्दों को धातुज नहीं मानते। यास्क ने गार्ग्य के द्वारा प्रस्तुत किये गये हेतुओं का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है।

1. यास्क निरुक्त में गार्ग्य के मत को इस प्रकार कहते हैं–**तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति'** (नि. 1.12) गार्ग्य के मत में वे शब्द धातुज हैं जो स्वर व संस्कार अर्थात् प्रकृति या प्रत्यय के संयोग से बने हों तथा प्रादेशिक गुण से युक्त हों वे आख्यातज हैं, इसके विपरीत गौः, अश्वः, पुरुषः इत्यादि शब्द रूढि है।

2. गार्ग्य की द्वितीय युक्ति है–**'अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्मकुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथा चक्षीरन्' इत्यादि** (नि. 1.12) यदि सभी शब्द धातुज होते तो कोई भी उस कर्म को करे उस सब वस्तु को उसी नाम से कहा जाता यथा– अश् व्याप्तौ धातु से व प्रत्यय करके अश्व शब्द बना जिसका अर्थ है जो मार्ग को व्याप्त करे उसे अश्व कहा जाना चाहिये, तथा तुदि तर्दने धातु से निष्पन्न तृण शब्द जो कोई भी चुभे सुई कांटा आदि को तृण कहा जाना चाहिये।

3. गार्ग्य की तृतीय युक्ति है– **'अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत'** इत्यादि (नि. 1.12) यदि सभी नाम धातुज हों तो जिन-जिन क्रियाओं से वस्तु या प्राणी का सम्बन्ध हो, उन क्रियाओं के आधार पर उनका नाम पड़ना चाहिये। अतः स्थूला (खंभा), दरशया (बिल में सोने वाली) तथा आसंजनी (छत को धारण करने वाली) भी कहा जाना चाहिये।

4. **'अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतानि स्युः'** इत्यादि (नि. 1.13) गार्ग्य के मतानुसार इन नामों को व्याकरण से सिद्ध तथा कर्म के आधार पर होने वाला प्रकृति प्रत्यय का विभाग है और जिस रूप में यह नाम स्पष्ट अर्थ वाले हों उनका प्रयोग किया जाना चाहिये। यथा पुरुष को पुरिशय, अश्व को अष्टा, तृण को तर्दन कहा जाना चाहिये।

5. **'अथापि निष्पन्नेऽभिव्यवहारेऽभिविचारयन्ति प्रथनात् पृथिवीत्याहुः'** (नि. 1.13) इस प्रकार पृथिवी आदि शब्दों के प्रयोग के प्रसिद्ध हो जाने पर शब्दों के धातुज सिद्धान्त को मानने वाले विद्वान् यह विचार करते हैं कि फैली होने के कारण पृथिवी को पृथिवी कहते हैं, परन्तु इसका उत्तर उनके पास नहीं है कि पृथिवी को कब तथा किसने कहाँ खड़े होकर फैलाया?

6. **'अनान्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्द्धान्त्सञ्चस्कार शाकटायन एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्ते शुद्धं च सकारादिं च'** (नि. 1.13) धातुज सिद्धान्त के प्रबल समर्थक आचार्य शाकटायन शब्द के स्वर तथा संस्कार से अन्वित न होने पर क्रिया की वाचक धातु के होने पर भी शब्द के टुकड़ों में धातु की कल्पना करने लगते हैं। यथा सत्य में इण् धातु यकारादि को बाद में करना तथा अस् धातु के सकारादि रूप को आदि में करना।

7. **'अथापि सत्वपूर्वो भाव इत्याहुरपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति। तदेतन्नोपपद्यते'** (नि. 1.13) शब्दों के धातुज मानने का एक दोष यह भी है कि 'सत्वपूर्वो भावः' अर्थात् पहले वस्तु या प्राणी की सत्ता होती है, तत्पश्चात् उसके द्वारा क्रिया होती है। अतः बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले विद्यमान वस्तु या प्राणी का नाम नहीं रखा जा सकता।

निरुक्त (अध्याय एक और अध्याय दो का प्रथम पाद)

गार्ग्य की युक्तियों का खण्डन –

1. गार्ग्य के प्रथम मत का यास्क ने समर्थन करते हुए कहा है–**यथो हि नुवा एतत्, तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति**' (नि. 1.14) जहाँ शब्द स्वर संस्कार समर्थ हो तथा अर्थभूत वस्तु के विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से अन्वित हो अर्थात् शब्द धातुज हो इस सिद्धान्त पर यास्क ने कोई आक्षेप नहीं किया है।

2. द्वितीय युक्ति के पक्ष में यास्क का कहना है– '**यथो एतद् 'यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्वं तथाचक्षीरन्निति' पश्यामः समानकर्मणां नामधेय प्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति ऐतेनैवोत्तरः प्रयुक्तः**'(नि. 1.14) एक ही कार्य करने वालों में से कुछ का नाम उस कार्य के आधार पर रखा जाता है, सबका नहीं। 'तक्षा' शब्द शिल्पी के लिये ही हो सकता है।

3. तक्षा शब्द के समान परिव्राजक जीवन तथा भूमिज शब्द का प्रयोग उन क्रियाओं से युक्त सभी के लिये नहीं होता है। इस प्रकार शब्द धातुज होते हुये भी सीमित वस्तु या व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। इसका उत्तरदायी वैयाकरण या नैरुक्त नहीं वस्तुतः यह बाद में भाषा का प्रयोग करने वालों पर निर्भर करती है। उपर्युक्त पक्ष के आधार से तृतीय आक्षेप का भी खण्डन हो गया।

4. जिस रूप में शब्द स्पष्ट अर्थ वाले हो उस रूप में उनका प्रयोग किया जाये, उसके उत्तर में यास्क कहते हैं–'**यथो एतत् यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्निति, सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिका यथा– व्रततिर्दमूना जाट्य आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति**' (नि. 1.14) कृदन्त शब्द बहुत थोड़े प्रयोग वाले हैं यथा जाट्य, जागरूकः, दर्विहोमी तथा इसके विपरीत अस्पष्टार्थ वाले शब्द बहुत अधिक हैं, अतः उनको भी शास्त्र स्पष्टार्थ वाला बनाता है।

5. शब्दों में प्रसिद्ध हो जाने पर उनके प्रकृति प्रत्यय के विषय में विचार करते हैं, इसके उत्तर में यास्क कहते हैं– '**निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति, भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः पृथनात्पृथिवीत्याहुः, क एनामप्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति, अथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः। अथाप्येवं सर्व एव दृष्टापवादा उपालभ्यन्ते**' (नि. 1.14) प्रकृति प्रत्यय के सम्बन्ध की ही परीक्षा होती है तथा फैली होने के आधार पर पृथिवी को 'पृथिवी' कहा जाता है। किसी के द्वारा फैलायी न होने पर भी फैली दिखाई देती है, ऐसे सभी दृष्टापवाद खण्डित हो सकते हैं।

6. जो ये कहा गया कि शाकटायन आदि ने शब्दों के भिन्न-भिन्न भागों को भिन्न-भिन्न धातुओं से सिद्ध किया इस आक्षेप का निराकरण करते हुये यास्क कहते हैं–'**यथो एतत्, पदेभ्यः पदेतरार्धान्तसञ्चस्कारेति, योऽनन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा इति**' (नि. 1.14) इसमें निर्वचन करने वाले व्यक्ति की निन्दा है। निर्वचनशास्त्र या सभी शब्दों को धातुज मानने वाले सिद्धान्त की निन्दा नहीं है।

7. '**यथो एतद् अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा**

बिल्वादो लम्बचूडक इति। बिल्वं भरणद्वा भेदनाद्वा' (नि. 1.14) गार्ग्य के इस मत का कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले नामकरण कैसे कर दिया जाता है? इसका खण्डन करते हुये यास्क कहते हैं कि कुछ वस्तुओं या प्राणियों का नाम बाद में की जाने वाली क्रियाओं के आधार पर रख दिया जाता है पर कुछ के विषय में ऐसा नहीं है। कहीं भूतकालीन क्रिया के आधार पर यथा अग्निष्टोम आदि नाम पड़ता है और कहीं वर्तमान कालीन क्रिया और भविष्यकालीन क्रिया के आधार पर यथा बिल्वादः, लम्बचूडकः आदि नाम पड़ जाते हैं।

गार्ग्य व शाकटायन के सिद्धान्तों का समन्वय इस रूप में किया जा सकताहै कि गार्ग्य का यह कथन तो ठीक है कि सभी शब्दों को धातुज नहीं कहा जा सकता क्योंकि शब्द की निष्पत्ति में अनेक कारण और तत्त्व काम करते हैं परन्तु गार्ग्य द्वारा किये आक्षेप भी उचित नहीं हैं। यास्क ने उन आक्षेपों का खण्डन उचित ही किया है। हो सकता है मूलतः शब्द धातुज रहे हों परन्तु उनमें बाद में परिवर्तन हो गया होगा। अतः निर्धारित व्याकरण के नियमों पर खरे न उतरने के कारण उन्हें अधातुज कह देना स्वाभाविक है।

महर्षि पाणिनि ने इस विषय में कोई स्पष्ट मत व्यक्त नहीं किया है तथापि निम्नलिखित परिभाषाओं के आधार पर उनके मत की समीक्षा की जा सकती है। **उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि** (परिभाषेन्दु सं 22) अर्थात् उणादिनिष्पन्न प्रातिपदिक (नाम) व्युत्पन्न अर्थात् धातुज होते हैं तथा अव्युत्पन्न अर्थात् रूढ होते हैं। वार्तिककार एवं भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में कहा है कि **'प्रातिपदिकविज्ञानाच्च पाणिनेः सिद्धम्'** (म. भा. 7.1.2 वा.) **'प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'** (म. भा. 7.1.2) अर्थात् पाणिनि आचार्य इस सम्बन्ध में अव्युत्पन्नपक्ष को मानते हैं। नागेश ने भी उपर्युक्त परिभाषाओं की व्याख्या करते हुये कहा है **'पाणिनेस्तु अव्युत्पत्ति पक्ष एव'** (पारिभाषेन्दु) अर्थात् पाणिनि को अव्युत्पत्ति पक्ष को मानने वाला प्रतिपादित किया है।

14.4 शब्दनित्यत्वानित्यत्वविचार

'इन्द्रिय नित्यं वचनम् औदुम्बरायणः (नि. 1.1)। तत्र चतुष्टयं नोपपद्यते। अयुगपद् उत्पन्ना वा शब्दानाम् इतरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च' (नि. 1.2) औदुम्बरायण शब्द को अनित्य मानते हैं। उनके अनुसार शब्द की सत्ता केवल वाक् इन्द्रिय तक ही है। जब तक वाक् इन्द्रिय शब्द का उच्चारण करती है तब तक ही शब्द की सत्ता है तथा उच्चरित होते ही शब्द नष्ट हो जाता है। महर्षि यास्क इस मत से सहमत नहीं हैं उनके अनुसार यदि शब्द अनित्य है तो उसमें नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात यह चतुर्विध विभाग नहीं बन सकेगा। उदाहरण के लिये गौः शब्द का उच्चारण करने पर वाणी पहले ग् को बोलती है, फिर औ को, फिर विसर्ग (:) को। वाणी ने जब ग् को बोला तब औ और विसर्ग नहीं बोले ग् को बोलकर जब औ बोला उस समय ग् नष्ट हो चुका होगा और विसर्ग अभी बोला नहीं और जब विसर्ग को बोला तब औ भी नहीं रहा, इस प्रकार जब एक वर्ण दूसरे वर्ण के साथ नहीं रह सकता तब किसी वाक्य में चारों पदों का उच्चारण एक साथ असम्भव है।

जब शब्द एक साथ उच्चरित नहीं हो सकते तब **'तद् यत्रोदे भावप्रधाने भवतः'** से नाम की आख्यात के प्रति गौणता और आख्यात की नाम के प्रति प्रधानता कही गयी है, यह निर्णय करना कठिन होगा तथा शब्दों का परस्पर विशेषण रूप इत्यादि सम्बन्ध भी नहीं बन पायेंगे। औदुम्बरायण के इस मत में तृतीय दोष यह होगा कि शब्दों का शास्त्रकृत संयोग भी नहीं बन पायेगा। प्रकृति प्रत्यय का संयोग, धातु उपसर्ग का संयोग भी समाप्त हो जायेगा क्योंकि जब धातु को उच्चारित करेंगे तो प्रत्यय नहीं होगा और प्रत्यय के उच्चारण करने पर धातु नष्ट हो जायेगी अतः व्याकरणशास्त्रकृत शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय का सम्बन्ध नष्ट हो जायेगा।

यास्क शब्द को नित्य मानते हैं तथा शब्द को नित्य मानने पर तीनों दोषों का निराकरण स्वयं ही हो जाता है। यास्क कहते हैं–**'व्याप्तिमत्वात् तु शब्दस्य'** (नि. 1. 2) शब्द के व्याप्तिमान् नित्य होने से तीनों दोषों का समाधान हो जाता है। शब्द नित्य है वह संस्कार रूप में वक्ता और श्रोता की बुद्धि या हृदयदेश में विद्यमान रहता है ध्वनियों के द्वारा शब्दों की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। ध्वनियाँ ही वाक् इन्द्रिय द्वारा उच्चारित होती हैं तथा नष्ट हो जाती हैं। शब्द उच्चरित या अनुच्चरित दोनों अवस्थाओं में नित्य है। कात्यायन, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि तीनों शब्द, अर्थ तथा उसके सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। ध्वनि का स्फोट सिद्धान्त तथा शब्द ब्रह्म का वर्णन शब्द की नित्यता को ही उद्घोषित करता है। शब्द की नित्यता स्वीकार करने वा वाक्य में शब्दों का प्रधान अप्रधान भाव, उनका चार प्रकार का विभाजन तथा प्रकृति, प्रत्यय, धातु उपसर्ग आदि का योग भी सिद्ध हो जाता है।

14.5 षड्भावविकार

भाव शब्द भू धातु से घञ् प्रत्यय लगाने से बना है, भाव का अर्थ है क्रिया। भाव में सभी क्रियायें (धातुयें) आ जाती हैं, परन्तु आचार्य वार्ष्यायणि ने छः प्रकार के भाव निश्चित किये हैं– **'षड्भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्तिविपरिणमतेवर्धतेऽपक्षीयतेविनश्यतीति'** (नि. 1.2)। निरुक्तकार ने क्रिया के लिये आख्यात शब्द का प्रयोग किया है तथा इसकी परिभाषा 'भावप्रधानमाख्यातम्' अर्थात् जिसमें भाव की प्रधानता हो वह आख्यात है। भाव के अन्तर्गत क्रिया की उत्पत्ति से लेकर अवसानपर्यन्त छः भाव आते हैं इस सन्दर्भ में उन्होंने वार्ष्यायणि के षड्भावविकारों की चर्चा की है। वे इस प्रकार हैं– 1. जायते 2. अस्ति 3. विपरिणमते 4. वर्धते 5. अपक्षीयते 6. विनश्यति। मुख्य रूप से सत्ता (भू) और अस्ति इन धातुओं से ही समस्त कार्य प्रकट होते हैं। एक तृतीय 'कृञ्' धातु भी इसी प्राधान्यता की श्रेणी में समाविष्ट होती है। भावविकारों का उल्लेख वार्ष्यायणि के नाम से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'षड्भावविकारा इति ह स्माह वार्ष्यायणिः'** (महा. भा. 1.3.1) ने किया है अतः यह षड्भावविकार सिद्धान्त भाषाविज्ञान का प्रसिद्ध और मान्य सिद्धान्त है।

1. **जायते** – षड्भावविकारों में प्रथम भावविकार जायते का अर्थ है 'उत्पन्न होना' **'जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति'** (नि. 1.2) यह क्रिया के आरम्भ भाव को कहती है यह न तो परवर्ती क्रिया को कहती है, न उसका निषेध करती है। उत्पन्न होने की प्रक्रिया में न तो यह कह सकते हैं कि यह इस वस्तु की सत्ता है और न ही यह कह सकते हैं कि यह इसकी सत्ता नहीं है।

2. **अस्ति** – **'अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्वस्यावधारणम्'** (नि. 1.2) उत्पन्न वस्तु की निश्चयात्मक स्थिति को अस्ति कहते हैं। वैयाकरणों के अनुसार अपने आपको धारण करने का व्यापार अस्ति है। **'आत्मानम् आत्मना विभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते।'** (वा. प. 3.7)

3. **विपरिणमते** – **'विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम्, वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युचयं सांयोगिकानां वाऽर्थानाम्'** (नि. 1.2) इसका अभिप्राय है परिवर्तित होना। इसमें क्रिया अपनी मूल प्रकृति को नहीं छोड़ती तथा न ही अपनी परवर्ती क्रिया वर्धते को कहती है न मना करती है। जैसे मानव शरीर में अनेक परिवर्तन हो सकते हैं परतु वह स्वभाव को नहीं छोड़ता।

4. **वर्धते** – **'वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा'** (नि. 1.2) वर्धते का अर्थ है वृद्धि। वृद्धि दो प्रकार की होती है। शरीर से वृद्धि होना या संयुक्त अर्थों से जैसे – धनेन वर्धते, विजयेन वर्धते, इत्यादि से भी वृद्धि हो सकती है।

5. **अपक्षीयते** – अपक्षीयते ह्रास या अपक्षय को कहते हैं। इसके भी वृद्धि के समान दो भेद हैं। शरीर का ह्रास। पदार्थों का ह्रास।

6. **विनश्यति** – यह अन्तिम भाव विकार है जब पाँचवां भाव विकार अपनी चरम सीमा को प्राप्त करता है तब विनाश कहलाता है। वार्ष्यायणि के अनुसार इन छः विकारों के अतिरिक्त जितने भी ज्ञातविकार प्राप्त होते हैं उन्हें इन्हीं के अन्तर्गत मान लेना चाहिये।

14.6 मन्त्रों की अर्थवत्ता

वेद मन्त्र भारतीय ज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं परन्तु जब तक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, मन्त्रों में प्रयुक्त कठिन शब्दों के प्रकृति प्रत्यय तथा स्वर संस्कार के विषय में जाना जायेगा तब तक उनके अर्थ का निर्धारण नहीं हो सकेगा। वेद मन्त्रों का अर्थ ज्ञान कराने में निरुक्त का अत्यधिक योगदान है इसीलिये निरुक्त को वेदविद्या का स्थान कहा जाता है। यास्क सभी वेदमन्त्रों को सार्थक मानते हैं। कौत्स के मत में वेद मन्त्र निरर्थक हैं। यदि वेद मन्त्रों को निरर्थक मान लिया जाये तो निरुक्त का प्रयोजन ही समाप्त हो जायेगा। अतः यास्क कौत्स द्वारा उपस्थापित युक्तियों का अपनी शैली में खण्डन करने का प्रयास करते हैं।

कौत्स का मत है कि **'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति'** (नि. 1.15) अर्थात् मन्त्र शब्दों की निश्चित योजना तथा निश्चित क्रम वाले होते हैं। मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों के स्थान पर पर्यायों का प्रयोग नहीं कर सकते न ही उनका क्रम परिवर्तित कर सकते हैं, यथा– **'अग्निमीळे पुरोहितः'** (ऋ. 1.1) मन्त्र के स्थान पर **'वह्नि स्तौमि पुरोहितः'** का उच्चारण नहीं कर सकते। यास्क कौत्स के द्वारा उपस्थापित इस मत का खण्डन करते हुये कहते हैं **'लौकिकेष्वप्येतद्यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति'** (नि. 1.16) लौकिक संस्कृत में भी अनेक प्रयोग मिलते हैं जहाँ शब्दों की योजना और क्रम निश्चित है, उनकी योजना और क्रम नहीं बदले जा सकते। शब्दों का क्रम बदलने से छन्दोभंग रूपी दोष उत्पन्न हो सकता है, यथा– इन्द्राग्नि, पितापुत्रौ, इत्यादि।

'अथापि ब्राह्मणेन रूप सम्पन्ना विधीयन्ते' (नि. 1.15) अर्थात् मन्त्रों का स्वयं का कोई अर्थ नहीं है यह ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा अर्थ युक्त बनाये जाते हैं, यथा—**'उरु प्रथस्व'** मन्त्र से फैलाता है। इस विषय पर महर्षि यास्क कहते है—**'इत्युदितानुवादः स भवति'** (नि. 1.16) वेद में कहे गये मन्त्रों का ब्राह्मण ग्रन्थ अनुवाद मात्र करते हैं, किसी का अनुवाद कर देने मात्र से अनूदित अंश निरर्थक नहीं हो जाता है। वेद मन्त्रों को सार्थक समझकर ही ब्राह्मण ग्रन्थ उनका विभिन्न कर्मों में विनियोग करता है।

'अथापि अनुपपन्नार्थः भवन्ति, औषधये त्रायस्व एनं स्वधिते मैनं हिंसी इत्याह हिंसन्' (नि. 1.15) कौत्स कहते हैं कि मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं, यथा—यजमान वृक्ष काटने के लिये जाते समय औषधये त्रायस्व... इत्यादि उक्त मन्त्रों का प्रयोग करता है। इसका निराकरण करते हुये यास्क कहते हैं—**'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत'** (नि. 1.16) वेद ऐसा विधान करते हैं कि वैदिक दृष्टि से होने वाली हिंसा हिंसा नहीं होती है। मीमांसकों ने भी कहा है, **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** (मीमांसा.) यास्क का मन्तव्य है कि वेदार्थ को जानने के लिये उनके भाव को समझना आवश्यक है तथा गूढार्थ को जानने के पश्चात् ही उसके वास्तविक अर्थ तक पहुँचा जा सकता है।

'अथापि विप्रतिसिद्धार्था भवन्ति' (नि. 1.15) मन्त्र विरोधी अर्थ वाले होते हैं। कौत्स ने कुछ मन्त्रों की ओर संकेत किया है। यथा एक ओर रुद्र की एकता का प्रतिपादन है तो दूसरी तरफ अनेक सहस्र शत्रु सेनाओं को जीतने का उल्लेख है। अतः मन्त्रों की विरोधिता उनकी निरर्थकता सिद्ध करती है। इस प्रसंग में यास्क कहते हैं—**'लौकिकेष्वप्येतद्यथाऽसपत्नो यं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति'** (नि. 1.16) लौकिक भाषा में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, यथा —एक दो या कम शत्रु वाले ब्राह्मण के लिये **'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः'** अनमित्र राजा इत्यादि। इससे शत्रुओं की न्यूनता से अभिप्राय है। अतः लोकवत् मन्त्रों की सार्थकता और तदनुकूल समाधान भी है।

'अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यतीति' (नि. 1.15) जानने वाले को बताता है, यथा 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' ऐसा कौन याज्ञिक है जो यह नहीं जानता कि आहुति अग्नि में डाली जाती है, फिर अध्वर्यु होता के इस वाक्य को कहने की क्या आवश्यकता है? यास्क इस आरोप का खण्डन करते हुये कहते हैं **'जानन्तमभिवादयते जानते मधुपर्कं प्राहेति'** (नि. 1.16) लोक व्यवहार में ज्ञात होने पर भी अनेक स्थानों पर शिष्य के द्वारा गुरु को अभिवादन करते हुये **'अभिवादये देवदतोऽहम्'** इस प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं।

अथप्याह **'अदितिः सर्वमिति'** (1.15) वेद मन्त्रों में यह कहा गया है कि अदिति ही सब कुछ है। इस विषय में यास्क कहते हैं— **'लौककेष्वप्येतद्यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति'**(नि. 1.16) इस प्रकार के प्रयोग लौकिक भाषा में प्राप्त होते हैं, यथा — सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति। ऐसे अनेक प्रयोग लोक में मिलते हैं।

'अथापि अविस्पष्टार्था भवन्त्यम्यग, यादृश्मिञ्जारयायि, काणुकेति' (नि. 1.15) मन्त्रों के अनेक शब्द अस्पष्ट अर्थ वाले होते हैं। इस प्रकार कौत्स वेद मन्त्रों को अनर्थक मानते हैं मन्त्रों का उच्चारण अथवा पाठ एकमात्र प्रयोजन मानते हैं। यास्क ने इस आक्षेप का भी खण्डन चतुरतापूर्ण ढंग से किया है। इसमें मन्त्र के शब्दों को कहने वाले व्यक्ति या अल्पज्ञता का ही दोष है, शब्दों का नहीं है। यास्क कहते हैं कि **'नैव स्थाणोरपराधसे यदेनमन्धो न पश्यति'** (नि. 1.16) यह स्थाणु (ठूंठ) का दोष नहीं है यदि उसे अन्धा नहीं देख सकता है। यह उस व्यक्ति की दृष्टिहीनता का दोष है। इस

प्रकार शब्दों को अस्पष्टार्थक कहकर छोड़ देने की अपेक्षा विविध उपायों से उनके अर्थों को जानने का उपाय करना चाहिये।

14.7 सारांश

इस प्रकार इस इकाई के माध्यम से आपने जाना कि यास्क ने निरुक्त के प्रथम अध्याय में नामाख्यातोपसर्गनिपात की चर्चा करते हुये शब्द के नित्यत्व पक्ष में बल दिया है। उन्होंने षड्भावविकारों की चर्चा करते हुये शब्दों के धातुज सिद्धान्त तथा वेदमन्त्रों की सार्थकता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यास्क हर सम्भव शब्द के निर्वचन पर बल देते हैं परन्तु उनके कुछ नियम भाषाविज्ञान के ध्वनि सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। अतः **'न संस्कारम् आद्रियेत्'** एक बहुत बड़ी भूल है। कुछ त्रुटियां होने पर भी वेदार्थ को जानने के लिये यास्क के निरुक्त की महती भूमिका है।

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. निरुक्तम् यास्कप्रणीतम् – हिंदी टीका प्र. मेहचन्द लछमन दास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली एवं हंसा प्रकाशन, जयपुर।
2. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपायध्याय, शारदा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
3. वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी – चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी
4. निरुक्तसारनिदर्शन – इतिहासविद्या प्रकाशन दिल्ली।

14.9 अभ्यास प्रश्न

1. आख्यात लक्षण की व्याख्या कीजिये।
2. यास्क मत में शब्दनित्यत्व समझाइए।
3. क्रिया के षड्भावविकारों को स्पष्ट कीजिये।
4. 'वेदमन्त्र सार्थक हैं या निरर्थक' स्पष्ट कीजिए।

इकाई 15 निरुक्त प्रयोजन एवं निर्वचन के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्‌देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- निरुक्त के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- निरुक्त के प्रयोजन का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- निरुक्त के निर्वचन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- यास्क कृत निर्वचन पद्धति को समझ सकेंगे।
- निर्वचन के द्वारा शब्दों के अर्थ को समझ सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

'अर्थावबोधे पद्‌जातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्' अर्थात् पद बोध के लिये जहाँ पदों को कहा गया है उसे निरुक्त कहा जाता है परन्तु यह लक्षण निघण्टु में भी घटित हो जाने के कारण पूर्णरूप से उचित नहीं कहा जा सकता। अतः आचार्य सायण ने एक अन्य लक्षण भी बताया है, वह इस प्रकार है–**'एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यन्ना निःशेषेणोच्यते तन्निरुक्तम्'** अर्थात् एक-एक पद के सम्भावित अवयवार्थ जहाँ स्पष्ट रूप से व्यक्त किये गये हों, उसे निरुक्त कहते हैं।

क्लिष्ट पदों के अर्थबोधन के लिये निर्वचन की यह परम्परा बहुत प्रचीन काल से प्रचलित है। निर्वचन विद्या के मूल बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में भी दिखाई पड़ते हैं। वहाँ वैदिक ऋषियों द्वारा मन्त्रार्थ बोध के लिये पदों के निर्वचन करने की परम्परा के दर्शन होते हैं। महर्षि यास्क ने भी निरुक्त नामक अपने निर्वचन शास्त्र में ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्वचनों को यथास्थान उद्‌धृत किया है। महर्षि यास्क द्वारा प्रतिपादित निर्वचनशास्त्र के सिद्धान्त आधुनिक भाषा विज्ञान में अर्थ निर्धारण का मूलाधार हैं तथा आज भी अर्थ विज्ञान के अन्तर्गत किसी ऐसे नवीन सिद्धान्त की उद्‌भावना नहीं की जा सकी है जिसके विषय में महर्षि यास्क ने न कहा हो।

निर्वचन का अर्थ है व्युत्पत्ति द्वारा अर्थ बताना। निरुक्त का उद्देश्य वैदिक शब्दों की व्याख्या करना तथा अर्थ का ज्ञान कराना है। शब्द का विश्लेषण ध्वनिपरक न होकर अर्थपरक होता है। अतः निरुक्त में यास्क ने शब्दों के निर्वचन पर बल दिया है तथा निर्वचन के कुछ सामान्य विशेष सिद्धान्तों का वर्णन किया है। इस इकाई में आप निरुक्त प्रयोजन एवं निर्वचन के सिद्धान्त तथा यास्क कृत प्रमुख निर्वचनों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करेंगे।

15.2 निरुक्त प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् प्रयोजन के बिना मन्द व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। अतः निरुक्त जैसे शास्त्र की क्या उपयोगिता है कि महर्षि यास्क और उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने-अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को इस रचना में समर्पित कर दिया। यह प्रश्न कदाचित् महर्षि यास्क के मन में भी आया होगा, अतः उनके द्वारा स्वयं निरुक्त में 1.15 से 1.20 तक निरुक्तशास्त्र के प्रयोजन के विषय में व्यापक व्यख्यान प्रस्तुत किया गया है।

महर्षि यास्क निरुक्तशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का सर्वप्रथम प्रयोजन बताते हुये निरुक्त को मन्त्रज्ञान अथवा अर्थज्ञान के लिए उपयोगी कहते हैं। मात्र इतना ही नहीं अपितु वे इसे व्याकरण का भी पूरक तथा स्वयं के भी अर्थ का साधक मानते हुये कहते हैं –**'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च'** (निरुक्त 1.15)। अर्थात् चतुर्दश विद्यास्थानों में परिगणित निरुक्तशास्त्र व्याकरण को पूर्ण करता है और अपने स्वतन्त्र अर्थ का साधक है। निरुक्त के प्रयोजन इस प्रकार हैं–

1. **अर्थज्ञान** – वस्तुतः शब्दस्वरूप का निर्धारण व्याकरणशास्त्र का विषय है, परन्तु अर्थ निर्धारण में व्याकरणशास्त्र की अपनी सीमाएँ हैं। वह उन शब्दों के अर्थ निर्णय में असहाय सा प्रतीत होता है जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का विधान सम्भव नहीं हो सकता है। शब्द सिद्धि की प्रक्रिया में आने वाली बाधाओं से पाणिनि भी परिचित थे इसीलिये उन्होंने ऐसे शब्दों की सिद्धि के लिये पृथक् उणादि सूत्रों की रचना की है। जबकि निरुक्तशास्त्र अर्थप्रधानशास्त्र है तथा यह अर्थ निर्णय में व्याकरण का पूरक तो है ही साथ ही इसका स्वयं में भी स्वतन्त्र अस्तित्व है। यास्क ने इस विषय में कहा है कि –**'अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थ प्रत्ययो न विद्यते'** अर्थात् निरुक्त के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। मन्त्रों के अर्थज्ञान में सहायक होने के कारण निरुक्त को वेद विद्या अथवा वैदिक ज्ञान का आधार कहा जाता है।

2. **पदविभाग** – निरुक्त का प्रमुख प्रयोजन है पद विभाग। स्वयं यास्क के शब्दों में **'अथापीदमन्तरेण पद विभागो न विद्यते'** (नि. 1.17) अर्थात् निरुक्तशास्त्र के बिना पद विभाग नहीं हो सकता। पद का निर्णय अर्थ के आधार पर होता है। अर्थज्ञान और पदविभागज्ञान में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने से भी यह निरुक्त का ही विषय है क्योंकि जब अर्थज्ञान निरुक्त के बिना सम्भव नहीं है तो उसी अर्थ का आश्रय लेकर किया जाने वाला पद विभाग बिना निरुक्त के कैसे सम्भव हो सकता है? इसी की पुष्टि के लिये यास्क ने उदाहरण दिया है–**'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम'** (ऋ. 10.165.1) अर्थात् यह कपोत दूत बनकर निर्ऋति के पास से हमारे पास आया है। यहाँ निर्ऋति शब्द पञ्चमी या षष्ठी विभक्ति अर्थ में आया है। यहाँ पर आकारान्त पद विभाग किया गया है परन्तु **'परो**

निर्ऋत्या आचक्ष्व' (ऋ. 10. 164.1) अर्थात् दूर होकर निर्ऋति के लिये हमारा सन्देश हो। इस मन्त्रार्थ में चतुर्थी विभक्त्यर्थ होने से अकारान्त पद विभाग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि दोनों मन्त्रों में समान रूप से निर्ऋत्या पद आया है। निरुक्तशास्त्र का ज्ञाता पदच्छेद या पद विभाग करके उपयुक्त अर्थ को जान लेता है जो निरुक्तशास्त्र को नहीं जानता वह मन्त्रों का पद विभाग करने में असमर्थ रहता है। अतः पद विभाग के लिये निरुक्तशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। पदविभाग ज्ञान यास्क के अनुसार निरुक्त की दूसरी उपयोगिता है।

3. **देवता का ज्ञान** – निरुक्त के अध्ययन का एक प्रयोजन यह भी है। 'अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशाः भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम्' (नि.1.17) अर्थात् यज्ञादि कार्यों में देवताओं के निमित्त आहुतियाँ प्रदान करने में वैदिक मन्त्रों की मुख्य उपयोगिता है परन्तु किस मन्त्र के द्वारा किस देवता को अमुक स्थान पर आहुति दी जाये, इत्यादि सिद्धान्तों का निर्णय करने में निरुक्त ज्ञान सहायक है। अतः यागादि कार्य सुचारु रूप से संचालित हो सके इसके लिये निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है, जैसे– **त्वां हि इन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महिः न श्रोष्यग्रे। इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः।।** (ऋ. 6.4.7) इस मन्त्र में प्रथम अर्द्धर्च में अग्नि प्रतिपाद्य है द्वितीय अर्द्धर्च में वायु का वर्णन है। शवस् शब्द से इन्द्र का प्रतिनिधित्व भी स्पष्ट होता है। इस ऋचा में तीन देवताओं की उपस्थिति होने पर देवता का निर्णय कैसे हो? इस प्रकार की शंका का निर्णय निरुक्त के द्वारा ही सम्भव है। निरुक्त की सहायता से ही यहाँ यह जाना जा सकता है कि उक्त मन्त्र में प्रधान देवता अग्नि ही है, इन्द्र तथा वायु अप्रधान देवता हैं।

4. **ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा –'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च'** (नि. 1.17) ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा संसार का नियम है। अतः प्रशंसा प्राप्ति के लिये निरुक्त का अध्ययन अवश्य करना चाहिये ऐसा महर्षि यास्क का मत है। यास्क इस कथन के प्रमाण में एक ऋचा प्रस्तुत करते हैं–

'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।' (नि. 1.18) अर्थात् वेद को पढकर जो अर्थ नहीं जानता वह भार उठाने वाले खम्भे के समान है। जो अर्थ को जानने वाला है वह ज्ञान रूपी जल से पापों को धुलकर सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है। वस्तुतः अर्थ को न जानते हुये शब्दों के उच्चारण मात्र से वेद के स्वाध्याय का फल मिल जाता है ऐसे व्यक्तियों को यास्क के मत में उस ईंधन की संज्ञा दी गयी है जो अग्नि रहित होकर जलाने के सामर्थ्य से हीन हैं अर्थात् जैसे अग्नि के बिना सूखा ईंधन जल नहीं सकता उसी प्रकार अर्थज्ञान से रहित वेद पाठ कल्याणकारी नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त यास्क ने सिद्धान्त आदि के रूप में अनेक ऐसे तत्त्वों को उद्घाटित किया है जो भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिये आज भी उपयोगी हैं।

15.3 निर्वचन के सिद्धान्त

निरुक्त की परम्परा महर्षि यास्क से बहुत पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। इसके संकेत भी यास्ककृत निरुक्त से प्राप्त होते हैं। महर्षि यास्क के निरुक्त में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पूर्व आचार्यों द्वारा प्रतिपादित निर्वचन के सिद्धान्तों का प्रमाण प्राप्त होता है

परन्तु पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तमूलक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। निर्वचन सिद्धान्तों के विषय में यास्क द्वारा प्रतिपादित एकमात्र निरुक्त उपस्थित है और उन्हीं के सिद्धान्तों का वर्णन किया जाता है। निरुक्त के द्वितीय अध्याय में यास्क ने शब्दों के निर्वचन के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। निरुक्त का प्रयोजन वैदिक शब्दों की व्याख्या करना तथा अर्थ का ज्ञान कराना है इसीलिये निरुक्त में यास्क ने शब्दों के निर्वचन पर बल दिया है तथा निर्वचन के सामान्य और विशेष सिद्धान्तों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार हैं–

1. महर्षि यास्क निर्वचन के प्रथम सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं–**'तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्'** (नि. 2.1) जब ऐसे पद समुपस्थित हों जिनमें स्वर, धातु, प्रत्यय, लोप, आगम आदि संस्कार व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया से उपपन्न हों वे पद उसी प्रकार व्याकरणीय प्रक्रिया के द्वारा निर्वचनीय हैं। तात्पर्य यह है कि जिन पदों में प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट हों तथा व्याकरण के नियमों से अर्थ स्पष्ट हो तो ऐसे पदों के निर्वचन में व्यर्थ कल्पना नहीं करनी चाहिये, किन्तु प्रक्रियानुसार सरलता से सम्भावित निर्वचन कर लेना चाहिये।

2. यास्क का द्वितीय सिद्धान्त उन पदों के निर्वचन से सम्बन्धित है जिनसे पूर्वोक्त निर्वचन करना सम्भव न हो। अतः वे कहते हैं– 'अथान्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन' (नि. 2.1) अर्थात् जहाँ अर्थ अन्वित न होता हो तथा शब्द व्याकरण प्रक्रिया से सिद्ध न होता हो ऐसी स्थिति में अर्थ को प्रधान मानकर उसकी किसी भी क्रिया की समानता के आधार पर धातु की कल्पना करके निर्वचन कर लेना चाहिये। महर्षि यास्क ने अपने ग्रन्थ में क्रिया के आधार पर अनेक निर्वचन प्रस्तुत किये हैं, जैसे– पृथिवी का निर्वचन करते हुये कहते हैं–प्रथनात् पृथिवी। पृथिवी के फैलाव को आधार मानकर उन्होंने उस अर्थ की साम्यता रखने वाली धातु से उसका निर्वचन कर दिया है। राजा शब्द की व्युत्पत्ति राज् धातु से की जाती है क्योंकि राजा ही राज्य में शोभते हैं।

3. यास्क का निर्वचन का तृतीय सिद्धान्त है– **'अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयान्नत्वेन न निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेत्, विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति'** (नि. 2.1) अर्थात् ऐसे पद जिनमें अर्थ की समानता भी विद्यमान न हो, वहाँ अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यञ्जन की समानता से निर्वचन कर लेना चाहिये निर्वचन से बचना नहीं चाहिये। महर्षि यास्क का यह सिद्धान्त इस रूप में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि महर्षि पाणिनि भी जब समस्त पदों की व्युत्पत्ति करने को उद्यत हुये तो अनेक पदों में इसी प्रकार की समस्याओं के परिणामस्वरूप **'उणादयो बहुलम्'** (पा. 3.3.1) कहकर उन्हें अनेक पदों के लिये उणादि का आश्रय लेना पड़ा। बहुत से देशज या रूढ शब्दों के निर्वचन के लिये भी इसी सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ता है। इसी को दुर्गाचार्य ने इस प्रकार कहा है–**'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।** (नि. 2.2) निर्वचन पाँच प्रकार का होता है 1. वर्ण का आगम 2. वर्ण का विपर्यय 3. वर्ण विकार 4. वर्ण नाश 5. अर्थ के अनुसार धातु के रूप की कल्पना। जब भी वर्ण की समानता के आधर पर निर्वचन किया जायेगा, इन पाँचों में से कोई न कोई स्थिति उत्पन्न होगी, जैसे– प्रत्तम, अवत्तम् (नि. 2.1)

4. यास्क का चतुर्थ सिद्धान्त है–**'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।'** (नि. 2.1) अर्थात् अर्थ के अनुसार विभक्तियों को परिवर्तित कर लें। इसका तात्पर्य यह है कि वेद में अर्थ के अनुसार विभक्ति तथा वचन का व्यत्यय बहुत अधिक पाया जाता है। ऐसी स्थिति में आधुनिक रूप सन्दर्भों के अनुसार अर्थ को प्रधानता देते हुये पदों का रूप परिवर्तित कर लेना चाहिये, यथा– 'हृत्सुशोकैः' (नि. 9.33) के स्थान पर यास्क 'हृदयानिशोकैः' करते हैं।

यास्क ने स्वर वर्ण की समानता से जो सिद्धान्त कहा है उसके लिये प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं–

1. **'प्रत्तमवत्तम् इति धात्वादि एव शिष्येते'** (नि. 2.1) धातु के कुछ रूपों में आदि वर्ण ही शेष रहता है, जैसे– प्र+दा+क्त– प्रत्त इसमें दा के आकार को **'अच उपसर्गात्तः'** (पा.1.4.47) से त् 'झरो झरि सवर्णे'(पा. 8.4.55) से त् का लोप **'खरि च'** (पा. 8.4.55) से द् को चर्त्व त् होकर प्रत्तम् बनता है। अव+दो+क्त 'आदेच उपदेशेऽशिति' (6.1.45) से ओ को आत्व दा होकर प्रत्तम् के समान अवत्तम् बनता है। इन दोनों प्रयोगों में धातु के आदि वर्ण ही शेष रह जाते हैं।
2. **'अथाप्यस्तेर्निर्वृत्ति स्थानेष्वादि लोपो भवति स्तः सन्तीति'** (नि.2.1) कुछ स्थानों में आदि वर्ण का लोप हो जाता है, जैसे– गुणवृद्धि रहित स्थानों में अस् धातु के आदि वर्ण का **'श्नसोरल्लोपः'** (पा. 6.4.111) से लोप होता है, यथा– स्तः, सन्ति।
3. **'अथाप्यन्तलोपो भवति– गत्वा गतमिति'** (नि.2.1) कहीं-कही अन्त्य अक्षर का लोप होता है, जैसे– गम्+क्त्वा – गत्वा, गम्+क्त – गतः आदि।
4. **'अथाप्युपधा लोपो भवति– जग्मतुर्जग्मुरिति'** (नि. 2.1)–कहीं-कही उपधा का लोप हो जाता है, जैसे– जग्मतुः, जग्मुः में उपधा अकार का लोप हो जाता है।
5. **'अथाप्युपधाविकारो भवति राजा दण्डीति'** (नि. 2.1) कहीं-कही उपधा में विकार होता है। ह्रस्व स्वर के बाद अनुनासिक वर्ण आने पर ह्रस्व को दीर्घ हो जाता है, यथा–राजन् के उपधा अ और दण्डिन् के उपधा इ को दीर्घ होता है पश्चात् न लोप होकर राजा, दण्डी बनते हैं।
6. **'अथापि वर्ण लोपो भवति**– तत्त्वा यामीति' (नि. 2.1) कहीं-कही वर्ण का लोप हो जाता है। तत्त्वा यामि– यहाँ याचामि के च् का लोप करके यामि बना है।
7. **'अथापि द्विवर्ण लोपस्तृच इति'** (नि. 2.1) कहीं पर दो वर्णों का लोप होता है। यथा– त्रि+ऋच् –तृच्, ऋच् के ऋ का लोप, त्रि के रेफ को सम्प्रसारण 'सम्प्रसारणाच्च' (6.1.108) से पूर्वरूप होकर तृचः बनता है। इस प्रकार यहाँ दो वर्णों का लोप हुआ।
8. **'अथाप्यादि विपर्ययो भवति ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाट्य इति'** (नि. 2.1)– कहीं-कही आदि वर्ण को विपर्यय हो जाता है, जैसे– द्युत्–ज्योतिः यहाँ दकार के स्थान पर ज् होता है। हन्–घनः, भिद्–बिन्दुः, भट्– वाट्यः इत्यादि।
9. **'अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोका रज्जुः'** (नि. 2.1)–कहीं-कही आदि और अन्त के वर्ण परस्पर स्थान बदल लेते हैं, जैसे– श्चुत्–स्तुच्– स्तुक्–स्तोका। इसी प्रकार रज्जुः– सृज्– सर्जु होकर र स परस्पर स्थान बदलकर रज्जु बनता है।

10. **'अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति'** (नि. 2.1) कहीं-कही अन्तिम व्यञ्जन में विकार हो जाता है। जैसे– वह्–वधु। मह्– मधु

निर्वचन का एक अन्य सिद्धान्त यास्क ने कहा है **'तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति, इत्यादि'** (नि.2.2) जहाँ स्वर वर्ण से अव्यवहित अन्तस्थ य्, र्, ल्, व् वर्ण धातु के मध्य में होते हैं, वह धातु द्विस्वभावात्मक होती है। ऐसी स्थिति में धातु के एक स्वभाव से शब्द सिद्धि न होने पर दूसरे से निर्वचन करें। उनमें से भी कई धातुयें सम्प्रसारण रूप में अल्प प्रयोग वाली होती हैं, यथा– ऊति, मृदु, पृथु, पृषत्, कुणारु इत्यादि। निर्वचन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि अजादि स्वर से आगे या पीछे यदि अन्तस्थ वर्ण धातु के मध्य में आ जाये तो धातु के सम्प्रसारण और असम्प्रसारण रूप से दो स्वभाव हो जाते हैं, यथा– यज् का इज्, वप् का उप्, ग्रह् का गृह्। अर्थात् यदि कही असम्प्रसारण रूप से शब्द सिद्धि न हो रही हो तो वहाँ सम्प्रसारण रूप से निर्वचन करना चाहिये, यथा– इष्टवान्, इष्टः इत्यादि। यष्टा, यष्टुम्, यष्टव्यम् ये यज् धातु के असम्प्रसारण रूप हैं।

निर्वचन के सिद्धान्त में इस बात का भी आग्रह है कि कुछ धातुयें सम्प्रसारण रूप में कम प्रयुक्त होती हैं, यथा– अव, म्रद्, प्रथ, प्रुष, क्वण इन धातुओं के ऊति, मृदु, पृथु, पृषत, कुणारु इत्यादि स्वल्प ही सम्प्रसारण रूप प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि आचार्य पाणिनि ने 'ऊतिः' पद की सिद्धि 'अव' धातु को 'ज्वरत्वर..' (पा. 6.4.20) से ऊठ् आदेश करके की है परन्तु यास्क ने 'अव' धातु को सम्प्रसारण रूप 'अउ' मानकर पररूप दीर्घ एकादेश करके ऊति सिद्ध किया है। इसी प्रकार सम्प्रसारण करके म्रद् से मृदु, प्रथ से पृथु, प्रुष् से पृष– पृषत, क्वण से कुण–कुणारु शब्दों की सिद्ध की है।

'अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः ...' (नि.2.2) शब्दों के निर्वचन में एक बात यह भी है कि लौकिक धातुओं से वैदिक कृदन्त प्रयोग मिल जाते हैं, यथा– दमूनस्, क्षेत्रासाधस्, इत्यादि तथा वैदिक धातुओं से उष्ण, घृत इत्यादि लौकिक कृदन्त शब्द सिद्ध होते हैं। लोक में दाम्यति, दमयति, दान्तः आदि में 'दम् उपशमे' धातु का प्रयोग बहुतायत होता है। दम् धातु से उणादि ऊनसि प्रत्यय करने पर वैदिक शब्द दमूनस् बनता है। दमूनस् से दमूनाः बनता है इसका अर्थ है अग्नि, दुष्टों के दमन में मन वाला अथवा दान में मन वाला। इसी प्रकार 'साध्' धातु से उणादि असुन् प्रत्यय होकर साधस् बनता है, साधस् का अर्थ है साधक। अतः क्षेत्रासाधाः का अर्थ क्षेत्र को सिद्ध करने वाला। इसी प्रकार और भी वैदिक धातुओं से लौकिक कृदन्त प्रयोग सिद्ध होते हैं यथा– उष् दाहे वैदिक धातु है, **'प्रत्युष्ट रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः'** (यजु.1.7) तथा **'घृ क्षरणदीप्त्योः धातु से 'आत्वाजिघर्मि'** (यजु.11.23) इत्यादि में सिद्ध प्रयोग वाला वैदिक धातु है। लोक में इनके उष्णः और घृतः कृदन्त रूप हैं। अतः वैदिक पदों का निर्वचन करते समय विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है।

'अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु' (नि. 2.2) निर्वचन करते समय यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि कुछ देशों या स्थानों में धातु का प्रकृति रूप व्यवहृत होता है तथा कुछ स्थानों में विकृति रूपों का व्यवहार होता है। इस सन्दर्भ में महर्षि यास्क द्वारा प्रस्तुत उदाहरण इस प्रकार हैं– कम्बोज देश में गत्यर्थक 'शव' धातु अपने प्रकृति रूप में ही व्यवहृत होती है जबकि आर्यावर्त में 'शव' धातु का विकृत रूप मृत देह (मुर्दा) रूप में व्यवहृत होता है। इसी प्रकार दा धातु के विषय में यास्क कहते हैं– 'दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु' (नि. 2.2) पूर्वी लोगों द्वारा काटने अर्थ में

दातिः का प्रयोग किया जाता है, उदीच्य में दात्रम् विकृत रूप का प्रयोग किया जाता है।

निर्वचन करने में इन सारी बातों का ध्यान रखना चाहिये– कि आदि लोप, मध्य लोप, अन्त लोप, आदि विकार, मध्य विकार, अन्त विकार, वर्ण लोप, द्विवर्ण लोप, आदि विपर्यय, अन्त विपर्यय, आद्यन्त विपर्यय और वर्णागम होना सम्भव है, जिनमें सम्प्रसारण नहीं दिखता, उनके किसी एक ही रूप में सम्प्रसारण सम्भव है, वैदिक धातुओं से लौकिक नाम और लौकिक धातुओं से वैदिक नाम की सिद्धि सम्भव है और देशान्तर में प्रयुक्त धातुओं से अन्य देश वा स्थान में प्रचलित नाम की उत्पत्ति सम्भव है। इस प्रकार महर्षि यास्क ने निर्वचन के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

15.4 यास्क कृत प्रमुख निर्वचन

कुल्माषाः – यास्क ने कुल्माष शब्द की व्युत्पत्ति **'कुलेषु सीदन्ति इति कुल्माषाः'** की है, अर्थात् ऐसा धान जो धनी कुलों में पड़ा-पड़ा दुःखी होता था अर्थात् खाया नहीं जाता था। शबर स्वामी ने कुल्माष की व्युत्पत्ति **'कुत्सितान् माषान्'** की है। कोषकार भरत ने कुल्माष का अर्थ खिचड़ी किया है।

शाखाः –**'शाखाः खशयाः'** अर्थात् शाखा को शाखा इसलिये कहते हैं क्योंकि वह आकाश में शयन करती है। ख आकाश व शया अर्थात् शयन करने वाली इसमें वर्ण विपर्यय करके शाखा कहते हैं। **'शाखा खशयाः शक्नोतेर्वा'**(नि. 1.4) शाखायें फल, फूल तथा पक्षियों को धारण करने में समर्थ हैं इसलिये भी उन्हें शाखा कहते हैं।

वर – **'वरो वरयितव्यो भवति'** वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये यास्क कहते हैं कि वर वरणीय, स्वीकरणीय या चुनने योग्य होता है।

जरित्रे – जरिता शब्द यास्क की दृष्टि में 'गरिता' शब्द से वर्णविपर्यय होकर बना है। जरितृ शब्द से व्युत्पत्ति मानने पर वृद्धावस्था तथा गृ धातु से व्युत्पत्ति मानने पर स्तुति करने वाला अर्थ होता है। जरितृ शब्द के चतुर्थी एकवचन में जरित्रे बना है। वेद में अनेक स्थान पर जरितृ वृद्धावस्था व स्तोता दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

मघोनी – मघवन् को तृ अन्तादेश अनुबन्धलोप मघवत् स्त्रीत्वविवक्षा में मघवती बनता है, मघ् धातु से वतुप् प्रत्यय से मघवत्– मघवन्। वेद में मघवती के स्थान पर मघोनी प्रयोग मिलता है। मघम् इति धनु नामधेयम्, महेतर् दानकर्मणः। इस प्रकार मघ् धातु धन अर्थ के साथ-साथ दान अर्थ वाली मह् धातु से भी मघ शब्द बना है। पाणिनि धातुपाठ में मघ् धातु बुद्धि अर्थ में मिलती है। ऋग्वेद में **'स्तोतृ महते मघम्'** (1.11.3)

दक्षिणा – समृद्धार्थक दक्ष् धातु से दक्षिणा शब्द सिद्ध होता है। **'दक्षते समर्धयति कर्मणः इति'** (नि. 1.7)। यास्क ने दक्षिणा कहने के तीन कारण दिये हैं– 1. दक्षिणा शब्द दक्ष् धातु से निष्पन्न मानने का कारण है कि दक्षिणा निर्धन को भी समृद्ध बना देती है 'प्रपूर्ययज्ञसमृद्धिं विधत्ते इति भावः'। अपि वा प्रदक्षिणा गमनात् प्रदक्षिणावृत्ति कारणात् वा' अर्थात् गमन करने के अर्थ में भी दक्षिणा शब्द का प्रयोग हुआ है। 2. **'दिशमभिप्रेत्य प्रदक्षिणेति शब्दः'** दक्षिण दिशा से सम्बन्ध होने के कारण दक्षिणा कहा जाता है। 3. दक्षिणादिक् हस्त प्रकृति अर्थात् **'दक्षिणहस्तकारणात् प्रजापतेरितिभाव'** दक्षिणा में दी जाने वाली गायें यज्ञवेदी के दक्षिण दिशा की ओर

लाकर फिर ऋत्विज् को दान में दी जाती हैं। दाशृ दाने धातु से भी दक्षिण हस्त शब्द निष्पन्न हुआ है।

हस्त – यास्क ने हस्त शब्द के साथ दक्षिण शब्द का प्रयोग किया है तथा **'दक्षतेरुत्साहकर्मणः'** (नि. 1.7) अर्थात् उत्साह अर्थ वाली दाशृ धातु से 'दक्षिण हस्त' शब्द का निर्माण किया क्योंकि दान देने या उत्साहपूर्ण कार्य दक्षिण हाथ से ही किया जाता है। 2. हस्त हन्ते– गत्यर्थक हन् धातोः प्राशुर्हनने –आशु गमनं, मरणं विद्यमानस्य हन् धातोः हस्त शब्दो निष्पन्न इति भावः'। हन् धातु गति तथा हिंसा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है अतः हस्त इसलिये कहा जाता है क्योंकि हस्त गति करने में बहुत तेजी से चलता है।

सुवीराः – यास्क ने सुवीराः का अर्थ वीरवन्तः किया है अर्थात् सन्तान या वीरों से युक्त। इसके पश्चात् कल्याणवीरा भी कहा है अर्थात् कल्याणकारी सन्तान या वीरों से युक्त अर्थ किया है। यास्क ने वीर शब्द की तीन व्युत्पत्तियाँ की हैं– 1. **'वीरयति अमित्रान्'** (नि. 1.7) अर्थात् वीर शब्द वि उपसर्ग पूर्वक ईर् धातु से बना है क्योंकि वीर शत्रु को अनेक रूपों में कंपा देता है, अर्थात् छिन्न-भिन्न कर देता है। 2. **'वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः'** अर्थात् गति अर्थ वाली वी धातु से र प्रत्यय करके बनेगा। वीर युद्ध क्षेत्र में विविध रूपों में गमन करता है। 3. 'वीरयतेर् वा' अर्थात् वीर शब्द विक्रान्तार्थक वीर धातु से निष्पन्न होगा क्योंकि वीर अनेक पराक्रम युद्ध करता है।

सीमा – 'सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा' (नि.1.7) आचार्य यास्क के मत में सीम् निपात परिग्रहार्थीय (सब ओर से अर्थ वाला) या पदपूरणार्थक है। सीम् के साथ अनर्थक स्वार्थ में तसिल् प्रत्यय करके सीमातः मर्यादातः अर्थ किया है अभिप्राय यह है सीमा या मर्यादा। यास्क के अनुसार 'सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः। सीमा मर्यादा, विषीव्यति देशाविति' (नि. 1.7)। अर्थात् सीमा दो देशों को अलग करती है। वि उपसर्गपूर्वक सीव् धातु से सीमा शब्द बना है। सीव् का अर्थ होता है सीमा।

ब्रह्मा – 'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुमर्हति' (नि. 1.8)। अर्थात् ब्रह्मा अवसर-अवसर पर अपने ज्ञान को प्रकट करता है। ब्रह्मा सब विद्याओं का ज्ञाता होता है और सबकुछ ज्ञान कराता है। **ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्मा परिवृढं सर्वतः।** ब्रह्मा शब्द बृह् धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ होता है ज्ञान के द्वारा बहुत बड़ा होना।

अध्वर्युः – 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः' (नि.1.8)। अर्थात् यज्ञ करते समय जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उन सबका प्रबन्ध अध्वर्यु करता है। यास्क ने अध्वर्यु शब्द की चार व्युत्पत्तियाँ दी हैं– 1. 'अध्वरं युनक्ति' अध्वर्यु यज्ञ का सम्पादन करता है। अध्वर उपपद रहते युज् धातु के योग से अध्वर्यु सिद्ध हुआ है। 2. 'अध्वरस्य नेता' अर्थात् यज्ञ का नेता। 3. 'अध्वरं कामयते' यज्ञ के सम्पादन की इच्छा रखता है। 4. 'अपिवाऽधीयाने युरुपबन्धः' अर्थात् जो अध्वर से सम्बन्धि यजुर्वेद आदि का अध्ययन करता है। 'अविद्यमानो ध्वरो यस्मिन् सोऽध्वरः' हिंसा अर्थ वाली ध्वृ धातु से अच् प्रत्यय करके ध्वर बना तथा नञ् समास करके अध्वर शब्द निष्पन्न हुआ। अध्वर शब्द यज्ञ का पर्याय है। यज्ञ को अध्वर इसलिये कहा गया है क्योंकि यज्ञ में हिंसा का अभाव होता है।

अक्षि – यास्क अक्षि शब्द का निर्वचन 'अक्षि चष्टे' अर्थात् अक्षि शब्द चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि धातु से बना है। 'तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवतः' (नि. 1.9) आँखें चेहरे पर अधिक स्पष्ट या व्यक्तर होती है।

कर्णः – यास्क ने कर्ण की तीन व्युत्पत्तियाँ की है। 1. कर्णः कृन्ततेर्निकृत्तद्वारो भवति' (नि. 1.9)। कर्ण शब्द कृति छेदने धातु से बना है क्योंकि कान कटे हुये द्वार वाला होता है। 2. ऋच्छतेरित्याग्रायणः। कर्ण शब्द ऋच्छ् धातु से भी बनता है। ऐसा आग्रायण मानते हैं। 3. 'ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम् इति ह विज्ञायते'। यह ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है कि इसका अभिप्राय यह है कि मानो दोनों कानों के दोनों आकाश बिल ऊपर की ओर चले गये।

ह्रदाः – ह्रदा का अर्थ है तालाब या छोटी नदी। यास्क ने ह्रदा शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की है प्रथम ह्रद् धातु से की है जिसका अर्थ है शब्द करना। ह्रदो ह्रादतेः शब्द कर्मणः नदी या तालाब में स्नानादि या जलचरों के कारण आवाज होती रहती है। 2. द्वितीय व्युत्पत्ति 'ह्लादतेर्वा स्यात्छीतीभावकर्मणः' ह्राद् धातु के अव्यक्त शब्द वा सुखी होना इन दोनों अर्थों को पाणिनि स्वीकार करते हैं। अतः ह्रदा शब्द प्रसन्नता व शीतलीकरण दोनों अर्थों में आता है।

नरक –'नरके न्यरकं नीचैर्गमनम्' अर्थात् नीचे की ओर जाना। 'नास्मिन् रमणं स्थानम् अल्पम् अप्यस्तीति वा'(नि. 1.11) इसमें रमणीय या आनन्ददायक स्थान अल्प मात्रा भी नहीं है। नि+अरक से नरक शब्द बना है।

गिरिष्ठाः – गिरिष्ठा शब्द गिरि+स्था+क्विप् से बना है। इसका अर्थ है पर्वत पर रहने वाला। गिरिः पर्वतः गिरि पर्वत का नाम है। 'समुद्‌गीर्णो भवति'(नि. 1.20) अर्थात् सम विषम छोटे पत्थरों से बना होता है तथा दूर से प्रतीत होता है। गृ+इ – गिर्+इ– गिरिः।

पर्वत – 'पर्ववान् पर्वतः' (नि. 1.2) पर्व युक्त या पोर वाला पर्वत कहलाता है। पर्व 'पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा' पर्वत शब्द पूरणार्थक पृ धातु या प्रीत्यर्थक प्री धातु से बना है पृ धातु से निष्पत्ति मानने पर अर्थ होगा कि अपने आश्रितों को फल फूल तथा अपने स्वरूप को शिला चट्‌टानों से पूर्ण करता है। प्री धातु से निष्पत्ति मानने पर पर्वत का अर्थ होगा अपने आश्रितों के लिये तृप्तिदायक सिद्ध होना। इसी प्रकार पूर्णिमा अमावस्या आदि पर्वों पर देवताओं को प्रसन्न करने का विधान है अतः इनको पर्व कहते हैं।

पुरुषः – यास्क ने पुरुष शब्द के तीन निर्वचन किये हैं– 1. पुरि सीदति' अर्थात् जो पुर में निवास करता है वह पुरुष है। पुरि+सद्+घञ् 2. 'पुरि शेते' अर्थात् जो नगर में सोता है। पुरि+शी+अच्– पुरिशय– पुरुष। 3. भरणार्थक पूरणार्थक पृ धातु से भी पुरुष शब्द निष्पन्न होता है। पूरयतीति पुरुषः अर्थात् अन्तरात्मा ने समस्त संसार को व्याप्त कर दिया है। पृ+णिच्+स – पुरुषः।

श्रृङ्गः – यास्क ने श्रृङ्ग शब्द के अर्थ व ध्वनिसाम्य के आधर पर चार निर्वचन प्रस्तुत किया है। 1. **'श्रृङ्गं श्रयतेर्वा'** (नि. 2.7) सींग सिर का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है। श्रयति मूर्धानम् इति श्रृङम्, श्रि+ग से श्रृङ्ग शब्द निष्पन्न हुआ है। 2. **'श्रृणोति हिनस्ति शत्रून् अनेनेति श्रृङ्गम्'** श्रङ्ग के द्वारा पशु अपने शत्रुओं की हिंसा करता है। शृ+ग– श्रृङ्ग शब्द सिद्ध हुआ। 3. श्रृङ्ग अपने बचाव के लिये ऊपर उठे होते हैं अतः शरण के शर और उद्‌गतम् के ग के संयोग से श्रृङ्ग निष्पन्न हुआ।

4. श्रृङ्ग 'शिरसो निर्गतम्' शिर से निर्गत इस अर्थ में शिरस और निर्गत के ग के संयोग से श्रृङ्ग शब्द की सिद्धि मानी जा सकती है।

पादः – **'पद्यतेऽनेनेति पादः'** पाद शब्द चलनार्थक पद धातु और घञ् प्रत्यय के योग से बनता है। पाद शब्द प्रारम्भिक स्थिति में पशुओं तथा मनुष्यों के पैर का वाचक था। **'तन्निधानात् पदम्'** (नि. 2.7) बाद में जिसको जिस स्थान से उठाकर जिस स्थान पर रखा जाने लगा उस स्थान को भी पाद (पद) कहने लगे। 'पशु पाद प्रकृति प्रभागपाद' पशु के चार पाद होते हैं तथा प्रत्येक चौथे भाग को पाद नाम से कहा जाने लगा। 'प्रभाग पाद सामान्यात् इतराणि पदानि' चतुर्थांश के लिये प्रयुक्त पाद शब्द चार भागों की समानता के आधार पर श्लोक के चरण को पाद कहा जाने लगा।

पुत्रः – यास्क ने तीन प्रकार से पुत्र शब्द का निर्वचन किया है–1. **'पुत्रः पुरु त्रायते'** (नि. 2.11) जो पूर्णतया रक्षा करता है, वह पुत्र है। पुरु+त्र– पुरुत्र– पुत्र। 2. **'निपरणाद् वा'** जो पिता को पिण्डदान करे उसका पालन-पोषण करे उसे पुत्र कहते हैं। पालनार्थक पृ धातु से त्र प्रत्यय करके पुत्र शब्द सिद्ध होता है। 3. **'पुन् नरकं ततस्न्नायत इति वा'** जो पुं नरक से पिता की रक्षा करता है उसे पुत्र कहते हैं। पुत्+त्रै – पुत्र।

वृत्राः – मेघ इति नैरुक्ताः मेघ ही वृत्र है यह नैरुक्तों का मत है। पुराणों के अनुसार त्वष्टा का पुत्र मेघ है, इसका इन्द्र से विरोध है। **'वृत्रो वृणोति वा वर्तते वा वर्धते वा'** मेघ आकाश को आच्छदित किये रहता है अतः वृत्र शब्द आच्छादनात्मक वृत्र धातु से निष्पन्न है अथवा वर्तमानार्थक वृत् धातु से बनता है क्योंकि वर्तमान रहता है। अथवा वृद्ध्यर्थक वृध् धातु से निष्पन्न है क्योंकि वर्षा में बहुत बढता है। अतः यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते। यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते। यदवर्द्धत तद वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते।

अहर् – यास्क ने अहर् का निर्वचन इस प्रकार किया है–'अहः कस्मात्' अहर् दिन को क्यों कहा जाता है इसका उत्तर देते हुये यास्क कहते हैं–**'उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि'** (नि. 2.20) अर्थात् लोग इसमे काम करते हैं। आ+हृ+आहर् – अहर्। यास्क के मत में अहर् शब्द रकारान्त है पाणिनि के मत में नकारान्त है। पाणिनि ने रकारन्त रूपों की सिद्धि न् को र् आदेश करके की है।

पाणि – **'प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति'** (नि. 2.26) हाथ जोड़कर लोग पूजा करते हैं। यास्क ने पूजार्थक पण् धतु से पाणि का निर्वचन स्वीकार किया है। पण+इ– पाणि।

स्थाणुः – **'स्थाणुस्तिष्ठतेरर्थोऽर्तेररणस्थो वा'** (नि. 1.18) स्थाणु शब्द स्था धातु से निष्पन्न होता है। स्था धातु उणादि णु प्रत्यय। अर्थ शब्द ऋ धातु से बना है अथवा अरण गमन हो जाने पर भी रहने वाला है।

मृगः – 'मृगः मार्ष्टेर्गतिकर्मणः' (नि. 2.20) मृग शब्द का अर्थ सिंह है अथवा जो तेजी से दौड़ता है। मृग शब्द गत्यर्थक मृज् धातु से निष्पन्न होता है। मृज्+ क– मृगः।

कम्बोजाः – कम्बोजाः कम्बलभोजाः, कमनीयभोजाः वा। कम्बल कमनीयो भवति (नि. 2.2)। 1. कम्बल भोज– कम्बोज यहाँ ब के अ तथा ल और भ का लोप होता है। 2. कमनीय भोज – कम्+भोज यहाँ कमनीय के म के अ और नीय का लोप होता है और भ को ब होता है।

15.5 सारांश

यास्क को निर्वचन विद्या का प्रथम लेखक माना जाता है। यास्क ने सर्वप्रथम निर्वचन को एक पृथक् विज्ञान के रूप में स्थापित किया। निरुक्त में निर्वचन के साथ ही साथ यास्क ने अपने अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है किन्तु इनकी निर्वचन विद्या की महत्ता सर्वाधिक है। वैदिक पाठ्य के सम्यक् ज्ञान के लिये निरुक्त आवश्यक है। निरुक्त को व्याकरण का पूरक माना जाता है–**'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्नर्यम्'** (नि. 1.15)। संहिताओं के पद पाठ में तथा पदों को धातु प्रत्यय आदि में विभक्त करने हेतु निरुक्त आवश्यक है।

यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र में एक से अधिक देवता होने पर प्रधान देवता का ज्ञान भी निरुक्त द्वारा होता है अतः इसका व्यावहारिक महत्त्व है। निरुक्त का अध्ययन स्वयं इसके लिये भी किया जाना चाहिये क्योंकि ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा भी की जाती है। भाषाविज्ञान के समान यास्क कृत निर्वचन शब्द के मूल अर्थ का ज्ञान नहीं कराता अपितु यास्क के निर्वचन का मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक अर्थों के साथ शब्द की संगति स्थापित करना है। इस कार्य में कुछ शब्दों का आदिम रूप और अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। निर्वचन में प्रचलित अर्थ का शब्द से अन्वय करने के लिये तथ्यों के आश्रय की अपेक्षा कल्पना का आश्रय लिया जाता है। अतः यास्क के निर्वचन में अर्थानुसार कल्पना के आधार पर शब्दों को अन्वित किया जाता है।

15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. निरुक्तम् यास्कप्रणीतम्– हिन्दी टीका प्र. मेहरचन्द लछमन दास पब्लिकेशनन्स, नई दिल्ली एवं हंसा प्रकाशन जयपुर।
2. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
3. वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी – चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी
4. निरुक्तसारनिदर्शन – इतिहासविद्या प्रकाशन दिल्ली।
5. निरुक्तम्, डां. उमाशंकर शर्मा प्र. चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी।

15.7 अभ्यास प्रश्न

1. निरुक्त के प्रयोजन लिखिए।
2. निरुक्त के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख करके व्याख्या कीजिए।
3. निर्वचन करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये।
4. निरुक्त के उद्देश्यों पर विस्तृत लेख लिखिए।

इकाई 16 निपात निरूपण

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- निपात के अर्थ को जान सकेंगे।
- निपातों के विभिन्न भेदों का ज्ञान कर सकेंगे।
- विभिन्न निपातों के अर्थों को जान सकेंगे।
- निपातों के प्रयोग का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- उपमार्थक निपातों का अध्ययन कर सकेंगे।
- छात्र पादपूरक निपातों का बोध कर सकेंगे।
- निपात समाहार का अध्ययन कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

यास्क ने अपने निरुक्त में पदों को चार विभागों में विभक्त किया है– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। वैदिक और लौकिक सम्पूर्ण शब्द समुदाय इन्हीं चारों पदभेदों के अन्तर्गत आते हैं। इन्द्र सम्प्रदाय के वैयाकरणों के अनुसार अर्घ का अभिधान करने वाला पद केवल एक प्रकार का है– 'अर्घः पदम्' शैव सम्प्रदाय के वैयाकरणों ने पद को सुबन्त और तिङन्त के भेद से दो प्रकार का माना है **सुप्तिङन्तं पदम्** (पा. 1/4/14) इसमें निपात और उपसर्ग को एक मानकर कतिपय आचार्य पदों के तीन भेद मानते हैं। कुछ लोग गति और कर्मप्रवचनीय को मिलाकर पदों के पाँच या छः भेद मानते हैं किन्तु यास्क ने चार भेदों को ही स्वीकार किया है। इन चारों पदों का लक्षण देते हुए यास्क ने नाम से पहले आख्यात का लक्षण सुप्रयोजन दिया है क्योंकि सभी नाम (प्रातिपदिक) आख्यातज है और वाक्य में आख्यातार्थ की ही प्रधानता होती है अतः प्रधान होने के कारण आख्यात का ही लक्षण पहले दिया–**''भावप्रधानमाख्यातं**

सत्वप्रधानानि नामानि''। नाम अर्थात् प्रातिपदिक में सत्व की प्रधानता होती है, यहाँ सत्व का अर्थ है द्रव्य/जहाँ पर लिंग-संख्या-कारकादि का सम्बन्ध हो वे सत्वभूत कहलाते हैं।

उपसर्ग के सम्बन्ध में शाकटायन आचार्य का मत है कि स्वतन्त्र रूप से उपसर्गों का कोई अर्थ नहीं होता। जब वे नाम अथवा आख्यात के साथ जुड़ते हैं तब वे उनके विशेष अर्थ को बतलाते हैं। आचार्य गार्ग्य के अनुसार उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु वे नाम और आख्यात के साथ जुड़कर ही अपने अर्थ को प्रकाशित करते हैं। नाम और आख्यात का अपना विशिष्ट अर्थ होता है, किन्तु उपसर्ग उनसे जुड़कर अर्थविशेष में परिवर्तन ला देते हैं।

पदों के विभाग में अन्तिम है निपात। निपतन होने की क्रिया वाले होने के कारण इनको निपात कहा जाता है। ये अनेक प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हैं अतः निपात कहलाते हैं। निपात यह अन्वर्थक संज्ञा है। इस इकाई में निपात के विभिन्न भेदों तथा अर्थों के विषय में विस्तार से चर्चा की जायेगी।

16.2 निपात लक्षण

निपात का लक्षण करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं कि **''उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति इति।''** अर्थात् निपात ऊँचे-नीचे अनेक प्रकार के अर्थों में गिरते हैं अर्थात् अनेक प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हैं, अतः निपात कहलाते हैं। निपतन होने की क्रिया के कारण 'निपात' अन्वर्थक संज्ञा है।

16.3 निपातों के विभाग

यास्क ने प्रयोगों के आधार पर निपातों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है।

क) उपमार्थक निपात

ख) अर्थोपसंग्रहार्थक निपात

ग) पादपूरक निपात

उपमार्थक निपातों का प्रयोग किसी उपमान की उपमेय से उपमा देने के लिये होता है। अर्थोपसंग्रहार्थक निपात वे होते हैं जो किसी दूसरे अर्थ का संग्रह करते हैं। पादपूरक वे निपात हैं जो वेद में मन्त्रों में पादों की पूर्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं।

16.3.1 उपमार्थक निपात

उपमार्थक निपात का निरूपण करते हुए यास्क लिखते हैं कि **"तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति"** अर्थात् इव, न, चित् और नु इन चार निपातों का प्रयोग वेद में उपमा के अर्थ में किया गया है। इन निपातों के अर्थ और व्याख्या निम्न प्रकार से हैं।

'इव' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'इव' निपात के व्याख्या प्रसंग में यास्क लिखते हैं कि **''इवेति भाषायाञ्च अन्वध्यायञ्च। अग्निरिव (ऋ. 10/84/2) इन्द्र इवेति (ऋ.–1/173/2)।''** यहाँ भाव है कि वेदकालीन समाज में वैदिक संस्कृत भाषा ऋषियों द्वारा देवताओं के लिये प्रयुक्त होती थी। ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किये गये देवताविषयक वैदिक मन्त्र इसी भाषा में निबद्ध हैं। इन मन्त्रों के अध्ययन के लिये आचार्य पहले इन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ अध्ययन करता

था। इस प्रकार सुनकर उच्चारण करके अध्ययन करने के कारण वेदमन्त्रों को 'अन्वध्याय' कहा जाता है।

उस समय लौकिक संस्कृत जो परवर्ती काल में पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के नियमों द्वारा नियमित और प्रतिष्ठित कर दी गयी वह लोक में प्रचलित थी। इसी लोक में प्रयुक्त भाषा को यहाँ भाषा शब्द से कहा गया है।

उपमा अर्थ में 'इव' निपात का लौकिक भाषा तथा वैदिक भाषा दोनों में प्रयोग होता है। यहाँ यास्क ने उदाहरण के लिये केवल वैदिक मन्त्रों का ही उपादान किया है क्योंकि निरुक्त में वैदिक शब्दों का ही मात्र निर्वचन किया गया है। उपमार्थक इव निपात के उदाहरण यथा – अग्निरिव (ऋ. 10/84/2) अर्थात् अग्नि के समान तथा इन्द्र इवेति (ऋ.–1/173/2) अर्थात् इन्द्र के समान।

'न' निपात की सोदाहरण व्याख्या – निरुक्तकार 'न' इस निपात की व्याख्या के प्रसंग में लिखते हैं कि –**"नोति प्रतिषाधर्थीयो भाषायम्। उभयमन्वध्यायम्।"** अर्थात् 'न' यह निपात लौकिक संस्कृत में निषेधार्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु वैदिक भाषा में यह कहीं-कहीं उपमार्थ में तथा कहीं पर निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रतिषेधार्थक 'न' निपात का उदाहरण – नेन्द्रं दवेममंसत (ऋ 10/86/1) इति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति। यहाँ पर 'नेन्द्रं देवममंसत' इस ऋग्वेदीय मन्त्र का अर्थ है कि आदित्य की किरणों ने इन्द्र को अपना प्रकाशक स्वीकार नहीं किया। इस मन्त्र में 'न' यह प्रतिषेधार्थक निपात है। जिसका निषेध किया जाता है उसके पहले निषेधार्थक 'न' इस निपात का प्रयोग होता है, जैसे– उपर्युक्त मन्त्र में निषध्य (इन्द्र) से पूर्व में 'न' इस निपात का प्रयोग हुआ है।

उपमानार्थक 'न' निपात का उदाहरण –''दुर्मदासो न सुशयाम् (ऋ 8/2/12) इत्युपमार्थीया उपरिष्ठादुपचारस्तस्य येनोपमितीते।'' इस उदाहरण में दिये गये मन्त्र **'दुर्मदासो न सुरायायम्'** का अर्थ है– इच्छापूर्वक सुरापान कर लेने पर निन्दित मद वाले पुरुषों के समान इन्द्र असुरों से लड़ने लगे। इस मन्त्र में 'न' इस निपात का प्रयोग उपमार्थ में किया गया है। जिससे उपमा दी जाती है। उसके बाद में उपमार्थक 'न' इस निपात का प्रयोग किया जाता है, जैसे– 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इस मन्त्र में उपमान 'दुर्मदासः' इस पद के बाद में 'न' इस निपात का प्रयोग हुआ है।

'चित्' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'चित्' इस निपात का व्याख्यान करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं कि –चिदित्येषोऽनेककर्मा/आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्। इसका तात्पर्य यह कि 'चित्' निपात का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। यह निपात सम्मान, उपमा तथा निन्दा इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। तीनों अर्थों में विद्यमान 'चित्' निपात के उदाहरण क्रमशः अधोलिखित हैं–

- आचार्यश्चिदिरं ब्रूयात् (आचार्य ही इस तथ्य को बतला सकते हैं।) इस उदाहरण में "चित्" निपात का प्रयोग आचार्य के प्रति सम्मान व्यक्त करने हेतु किया गया है।
- दधिचित् (दधि के समान) यहाँ "चित्" यह निपात उपमार्थ में प्रयुक्त हुआ है।
- कुल्माषाश्चिदाहर (कुल्माषों अर्थात् अधपके गेहूँ को ही ले आओ) यहाँ पर "चित्" निपात का प्रयोग निन्दा अर्थ में किया गया है

'नु' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'नु' इस निपात का व्याख्यान करते हुए यास्क लिखते हैं कि – **'नु इत्येषोऽनेककर्मा'।** अर्थात् 'नु' यह निपात अनेक अर्थ वाला है। इस निपात का प्रयोग तीन अर्थों में होता है।

(1) हेत्वर्थ (2) अनुप्रश्नार्थ (3) उपमार्थ। इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त 'नु' इस निपात के उदाहरण क्रमशः अधोलिखित हैं–

- इदं नु करिष्यति (इस कारण से इस कार्य को करेगा) इस उदाहरण में 'नु' यह निपात हेत्वर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
- कथं नु करिष्यति? इति अनुप्रष्टे। नन्वेतदकार्षीत्। (कैसे कहेगा? ऐसा पुनः पूछने पर। इस कार्य को पहले ही कर दिया) यहाँ 'कथं' पद का प्रयोग आश्चर्य अर्थ में हुआ है। किसी से पूछा कि क्या तुम यह कार्य कर सकते हो तो उसने उत्तर दिया कि हाँ करूँगा। तव वह दुबारा पूछता है 'कैसे करेगा?' यहाँ 'नु' यह निपात दूसरी बार पूछने (अनुप्रश्न) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस पर दूसरा व्यक्ति उत्तर देता है– ननु एतत् अकार्षीत्, अरे उसने इस कार्य को किया है फिर इसमें आश्चर्य को बात ही नहीं हैं।
- वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (ऋ. 6/24/3) (हे इन्द्र वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी रक्षायें विविध प्रकार से व्याप्त है) इस उदाहरण में 'नु' इस निपात का प्रयोग उपमा अर्थ में किया गया है। इस मन्त्र में यास्क ने 'वयाः' इस पद का अर्थ शाखा किया है। शाखा को वयाः इसलिये कहा जाता है क्योंकि वे ''वातायना भवन्ति'' हवा से हिलने वाली होती हैं, अतः गत्यर्थक 'वा' धातु से 'यत्' प्रत्यय होकर वय सिद्ध होता है।

कर्मोपमा निपात का निरूपण – कर्मोपमा निपात का निरूपण करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं कि **'यथेति कर्मोपमा'** अर्थात् यथा यह निपात कर्मोपमा अर्थात् क्रिया की उपमा में प्रयुक्त हुआ है, उदाहरण जैसे–

1. यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति (ऋ. 5/78/8) अर्थात् जिस प्रकार वायु चलती है, जिस प्रकार वृक्ष हिलते हैं जिस प्रकार समुद्र तरंगित होता है उसी प्रकार जटायु के साथ हिलते हुए तुम बाहर आओ।
2. भ्राजन्तो अग्नयो यथा (ऋ. 1/50/3) अर्थात् जिस प्रकार जलती हुई अग्नियाँ वस्तुओं के स्वरूप को दिखला देती हैं। उसी प्रकार सूर्य को किरणें पदार्थों के स्वरूप को दिखलाती हैं।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'यथा' निपात का प्रयोग कर्मोपमा अर्थ में हुआ है इसी प्रकार नीचे कर्मोपमा अर्थ में प्रयुक्त हुए विभिन्न निपातों के उदाहरणों की व्याख्या की जा रही है।

कर्मोपमा अर्थ में प्रयुक्त 'न' निपात का उदाहरण – अग्निर्न ये भ्राजस रुक्मवक्षसाः (ऋ. 10/78/2) इस मन्त्र का अर्थ है कि जो वायु देवता अग्नि के समान तेज से सम्पन्न और तेजस्वी वक्षस्थल वाले हैं वे हमारे यज्ञ के पूर्ण करें। इस उदाहरण में कर्मोपमा अर्थ में 'न' निपात का प्रयोग हुआ है।

कर्मोपमा अर्थ में प्रयुक्त 'चित्' निपात का उदाहरण –

चतुरश्चिद्ददमानाद्विभीयादानिधातोः
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् (ऋ. 1/41/1)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि जिस प्रकार चार पासों के धारण किये हुए जुआरी से पासों को फेंक देने तक दूसरा जुआरी डरता रहता है उसी प्रकार दुर्वचन के लिये कभी भी इच्छा न करें अर्थात् चार पासों के धारण करने वाले जुआरी से जिस प्रकार दूसरा जुआरी डरता है उसी प्रकार दुर्वचन कहने से डरना चाहिये। इस मन्त्र में कर्मोपमा अर्थ में 'चित्' निपात का प्रयोग हुआ है।

कर्मोपमा अर्थ में प्रयुक्त 'आ' निपात का उदाहरण – जार आ भगम् (ऋ. 10/11/6) इस मन्त्र का अर्थ है कि जिस प्रकार सूर्य भूमि में स्थित रस को या अपनी ज्योति को ऊपर ले जाता है उसी प्रकार तुम भी अपने माता-पिता को ऊपर सुख-धाम में ले जाओ। इस मन्त्र में कर्मोपमा अर्थ में 'आ' निपात का प्रयोग हुआ है।

भूतोपमा निपात का निरूपण – भूतोपमा निपात का तात्पर्य है कि ऐसे निपात जो भूत अर्थात् प्राणीवाचक शब्द के साथ मिलकर उपमा को प्रकट करता है। इसी प्रसंग में यास्क लिखते हैं कि 'मेष इति भूतोपमा' अर्थात् 'मेष' यह शब्द भूत शब्द के साथ मिलकर उपमा वाचक होता है अतः 'मेष' शब्द भूतोपमार्थक निपात कहलाता है, जैसे – **मेषो भूतोउभिचन्नयः** (ऋ. 8/2/40)

इस मन्त्र का अर्थ है कि– हे इन्द्र। मेष के समान जाते हुए जिस प्रकार तुम प्राप्त हुए हो उसी प्रकार आओ। इस मन्त्र में 'मेष' शब्द का प्रयोग भूतोपमार्थक निपात के रूप में हुआ है।

रूपोपमा निपात का निरूपण – रूपोपमा निपात का तात्पर्य है कि ऐसे निपात जो रूप की उपमा वाले हों वह रूपोपमार्थक निपात की श्रेणी में आते हैं। रूपोपमा निपात के निरूपण प्रसंग में प्रथम निपात है– अग्नि। इस सन्दर्भ में निरुक्तकार लिखते हैं– **'अग्निरिति रूपोपमा'** अर्थात् अग्नि यह रूप की उपमा वाला है, जैसे –

"हिरण्यकरूप हिरण्यसंदृगपान्नपारसेदु हिरण्यवर्णः" (ऋ.2/35/10)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि सुवर्ण के समान रूप वाला, सुवर्ण के समान दिखलायी पड़ने वाला, सुवर्ण के समान रंग वाला वह अग्नि अन्न को देता है। इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द का प्रयोग रूपोपमार्थक निपात के रूप में हुआ है।

रूपोपमा अर्थ में प्रयुक्त निपात का उदाहरण –
''तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा''(ऋ.5/44/1)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि उस इन्द्र की हम स्तुति करते हैं जो प्राचीन अत्रि आदि के समान, पूर्ववर्ती ऋषियों के सामन, सम्पूर्ण के समान वर्तमान लोगों में व्याप्त है। इस मन्त्र में रूपोपमा अर्थ में 'था' इस निपात का प्रयोग हुआ है।

सिद्धोपमा निपात का निरूपण – सिद्धोपमा निपात का तात्पर्य है ऐसे निपात जो किसी प्रसिद्ध की उपमा में प्रयुक्त हो। सिद्धोपमा निरूपण के प्रसंग में यास्क लिखते हैं कि– 'यदिति सिद्धोपमा' अर्थात् 'यत्' यह प्रसिद्ध की उपमा में प्रयुक्त होता है। उदाहरण –

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम।।(ऋ.1/45/3)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि– महान् कृत्य करने वाले हे अग्नि! प्रियमेध अर्थात् हे प्रिय। बुद्धि के समान, अत्रि के समान, विरूप के समान और अंगिरा के समान कण्व के पुत्र के निवेदन/स्तुति को सुनो। इस मन्त्र में सिद्धोपमार्थक निपात के रूप में 'यत्' का प्रयोग हुआ है।

16.3.2 अर्थोपसंग्रहार्थक निपात

यास्क अर्थोपसंग्रहार्थक निपात का लक्षण करते हुए लिखते हैं–**अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहः।** अर्थात् जिस निपात के आगम से अर्थ की पृथकता तो विशेष रूप से ज्ञात होती है किन्तु विग्रह द्वारा ही पृथकता होने के कारण अर्थ के समान नहीं होती, वह निपात अर्थोपसंग्रह कहलाता है। अर्थोपसंग्रह निपात के विषय में विभिन्न व्याख्याओं के भिन्न-भिन्न मत हैं।

क) व्याख्याकार दुर्गाचार्य के अनुसार समास के भिन्न-भिन्न पदों में जिससे पार्थक्य का ज्ञान हो, यह पृथकता स्पष्ट रूप से कही न गयी हो किन्तु निपात का अध्याहार करके विग्रह करने पर पृथकता (भेद) का बोध हो तो यही निपात अर्थोपसंग्रह है, जैसे– 'रामलक्ष्मणौ' यहाँ क्रियारूप अर्थ में अर्थोपसंग्रह कराने वाला निपात 'च' अदृश्य है। इसमें द्विवचन होने के कारण राम और लक्ष्मण की पृथकता का बोध तो होता है किन्तु पृथकता को स्पष्ट करने वाला निपात 'च' प्रत्यक्ष रूप से नहीं कहा गया है। निपात 'च' का अध्याहार करके रामः लक्ष्मणश्च इस प्रकार विग्रह करने पर पृथकता ज्ञात होती है। अतः यहाँ 'च' अर्थोपसंग्रह करने वाला निपात है।

ख) डॉ. पी. डी. गुणे का मत है कि निपातों के तीन भेद कहे गये हैं। उन तीनों भेदों में से उपमार्थक और पादपूरक इन दो निपातों को छोड़कर अन्य सभी निपात अर्थपृथक्त्व का कार्य करते हैं– विविध प्रकार के अर्थ को बतलाते हैं अतः अर्थोपसंग्रह निपात कहलाते हैं।

ग) वस्तुतः अर्थोपसंग्रहार्थक वे निपात कहे जाते हैं जो किसी दूसरे अर्थ का संग्रह करें। इन निपातों के आगम से उक्त अर्थ के अतिरिक्त भिन्न अर्थ का भी ज्ञान होता है, किन्तु इस भिन्न अर्थ का बोध उद्दिष्ट अर्थ के समान नहीं होता। इस उद्दिष्ट अर्थ में अर्थ का अवबोध विग्रह द्वारा होता है जो इन निपातों द्वारा स्वयं ही संग्रहीत हो जाता है,जैसे रामश्च कहने पर 'च' द्वारा राम इत्यादि अनुदिष्ट (अनुक्त) अर्थ का परिज्ञान होता है। 'रामो वा' कहने पर 'वा' निपात राम के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का बोध कराता है। 'वेदाः ब्रह्मणैव रचिताः' में प्रयुक्त 'एव' निपात 'वेद किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित नहीं है'– इस अनुक्त अर्थ का ज्ञान कराता है।

विभिन्न अर्थोपसंग्रहार्थक निपातों का व्याख्यान

च निपात की सोदाहरण व्याख्या–

'च' निपात की व्याख्या के प्रसंग में निरुक्तकार लिखते हैं कि –**'च इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते'।** अर्थात् 'च' यह निपात समुच्चय (जोड़ना) अर्थ वाला है जो दोनों पदों के साथ प्रयुक्त होता है। समुच्चय का अर्थ है– एकत्रीकरण। समुच्चयार्थक निपात के द्वारा कई अर्थों को एकसाथ जोड़ा जाता है इसलिये ऐसे निपात

समुच्चयार्थक कहलाते हैं। 'च' यह निपात समुच्चयार्थक निपात है जो दोनों पदों के साथ संयुक्त रहता है, उदाहरण जैसे –

'अहं च त्वं च वृत्रहन्' (ऋ.8/62/17) (हे वृत्र को मारने वाले इन्द्र! मैं और तुम दोनों सुख-समृद्धि से संयुक्त होवें।) इस उदाहरण में 'च' निपात के द्वारा 'हे वृत्र को मारने वाले इन्द! मैं सुख-समृद्धि से संयुक्त हो जाऊँ और तुम भी संयुक्त हो जाओ– इन दोनों अर्थों को जोड़ा गया है। इस 'च' निपात का प्रयोग अहं और त्वं दोनों पदों के साथ हुआ है।

'आ' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'आ' निपात की व्याख्या के प्रसंग में निरुक्तकार लिखते हैं कि –**"एतस्मिन्नेवार्थे देवभ्यश्च पितृभ्य आ (ऋ. 10/16/11) इत्याकारः।** अर्थात् समुच्चय अर्थ में ही कहीं-कहीं 'आ' निपात का प्रयोग हुआ है, उदाहरण जैसे–**'देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च आ'** (देवताओं का और पितरों का प्रवचन करता है।) यहाँ 'आ' निपात का प्रयोग भी समुच्चय अर्थ में हुआ है।

'वा' निपात के सोदाहरण व्याख्या – 'वा' इस निपात की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं कि **'वेति विचारणार्थे'** अर्थात् 'वा' यह निपात विचार करने (विकल्प) के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे–**हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा** (ऋ. 10/119/83) (मैं इस पृथ्वी को इस अन्तरिक्ष में अथवा इस द्युलोक में रखूँ) यहाँ 'वा' निपात का प्रयोग विकल्प अर्थ में हुआ है।

– पुनः 'वा' इस निपात का प्रयोग समुच्चय अर्थ में भी किया गया है–**'अद्यपि समुच्चयार्थे'।** उदाहरण – वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा (हे अश्व! तुम्हें वायु और मनु रथ में जोड़ते है) यहाँ 'वा' निपात का प्रयोग वायु और मनु के समुच्चय को बताने के लिए हुआ है।

'अह' तथा 'ह' निपातों की सोदाहरण व्याख्या –

इन दोनों निपातों के वर्णन प्रसंग में निरुक्तकार लिखते हैं कि –**''अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते। अयमहेदं करोत्वयमिदम् – इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति''** अर्थात् 'अह' तथा 'ह' ये दोनों निपात विलग होने अर्थ वाले पूर्ववर्ती अर्थ से संयुक्त होते हैं। यह दोनों निपात विलग अर्थ को बतलाने वाले हैं किन्तु इनका प्रयोग पूर्ववर्ती अर्थ के साथ ही केवल एकबार होता है, जैसे–

'अह' निपात का उदाहरण – अयम् अह इदं करोतु अयम् इदम् (यह कार्य अमुक व्यक्ति करे और यह कार्य अमुक) यहाँ दोनों वाक्यों के अर्थों में अह के द्वारा विलगाव (भेद) किया गया है। इस 'अह' का केवल एकबार पूर्ववर्ती अर्थ के साथ प्रयोग हुआ है।

'ह' निपात का उदाहरण – इदं ह करिष्यति इदं न करिष्यति (यह कार्य देवदत्त करेगा और इस कार्य को नहीं करेगा।) यहाँ दो अर्थों का कथन हुआ है एक काम को करने के लिये और दूसरे कार्य को करने से मना किया गया है, अतः इन दोनों अर्थों में विलगाव के पूर्ववर्ती अर्थ के साथ 'ह' निपात का प्रयोग हुआ है।

'उ' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'उ' निपात की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं कि **'अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण'** अर्थात् यह 'उ' निपात इसी विलग (भेद) अर्थ में प्रयुक्त होता है जो दो अर्थों में से उत्तरवर्ती अर्थ के साथ संयुक्त होता है, जैसे– **मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्ति** (ये लोग असत्य बोल रहे हैं वे सत्य

बोल रहे हैं) यहाँ पर 'उ' निपात विलगाव (भेद) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा परवर्ती सत्य बोल रहा है। इसके साथ संयुक्त भी है।

पुनः 'उ' निपात का प्रयोग छन्दों की पादपूर्ति के लिये भी किया जाता है–**'अथापि पादपूरणः।'** अर्थात् 'उ' निपात वेद में कहीं-कहीं छन्द की पूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है उसका कोई अर्थ नहीं होता। उदाहरण जैसे – 'इदमु' और 'तदु' (1/62/6) में 'उ' निपात केवल पाद की पूर्ति के लिये ही आया है, यहाँ इसका कोई अर्थ नहीं है।

'हि' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'हि' इस निपात की व्याख्या के प्रसंग में निरुक्तकार लिखते हैं कि – 'हीत्येशोऽनेककर्मा' अर्थात् यह 'हि' निपात अनेक अर्थों वाला होता है। यास्क ने 'हि' निपात को इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होने वाला बतलाया है– (1) हेतुकथन (2) अनुपृष्ट (3) ईर्ष्या। इन तीनों अर्थों के उदाहरण नीचे क्रमशः दिये जा रहे हैं –

1) **हेतुकथन – इदं हि करिष्यति** (इस कार्य को यह अमुक कारण से करेगा) यहाँ 'हि' निपात का प्रयोग हेत्वर्थ में हुआ है।

2) **अनुपृष्ट** – कथं हि करिष्यति (यह इस कार्य को कैसे करेगा) यहाँ हि का प्रयोग अनुपृष्ट (अनुप्रश्न) अर्थ में हुआ है।

3) **ईर्ष्या** – कथं हि व्याकरिष्यति (यह इस विषय का किस प्रकार से व्याख्यान करेगा) यहाँ पर 'हि' निपात का प्रयोग ईर्ष्या अर्थ में किया गया है।

'किल' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'किल' इस निपात की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं कि 'किलेति विद्याप्रकर्षे –एवं किलेति'। अर्थात् 'किल' यह निपात ज्ञान की उत्कृष्टता/निश्चय के अर्थ में होता है। ज्ञानवान व्यक्ति किसी तथ्य को 'यह ऐसा ही है' निश्चयपूर्वक कहता है। इस प्रकार का कथन करने वाले व्यक्ति के ज्ञान की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। जब तक कोई व्यक्ति किसी तथ्य की गम्भीरता तक नहीं पहुँचता तब तक वह यह नहीं कह सकता कि यह तथ्य जैसा मैं कह रहा हूँ ऐसा ही है। जब व्यक्ति तथ्य की गम्भीरता तक पहुँच जाता है तभी वह निश्चयपूर्वक कहता है कि जैसा मैं कह रहा हूँ, वह तथ्य वैसा ही है। इस प्रकार इस कथन से उस व्यक्ति की उस विषय में उत्कृष्टता प्रदर्शित होती है, उदाहरण जैसे– 'एवं किल' यहाँ पर 'किल' निपात का प्रयोग निश्चयार्थ में हुआ है।

पुनः 'किल' यह निपात निश्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु यदि 'किल' से पहले 'न' अथवा 'ननु' संयुक्त हो तो वहाँ उसका निश्चय अर्थ नहीं होता अपितु अनुप्रश्न अर्थ होता है, जैसे – न किलैवम्, ननु किलैवम् (क्या ऐसा नहीं है।) यहाँ पर 'किल' निपात का प्रयोग 'अनुप्रश्न' अर्थ में हुआ है क्योंकि इस निपात का प्रयोग 'न' तथा 'ननु' के उपरान्त हुआ है।

'मा' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'मा' निपात की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं कि "मेति प्रतिषेधे – मा कार्षीमो हार्षीरिति च।" अर्थात् 'मा' यह निपात निषेध अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे– मा कार्षीः (यह कार्य मत करो), मा हार्षीः (हरण मत करो) इन दोनों उदाहरणों में 'मा' इस निपात का प्रयोग निषेध अर्थ में हुआ है।

'खलु' निपात की सोदाहरण व्याख्या-

'खलु' निपात की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं कि 'खल्विति च – खलु कृत्वा, खलु कृतम्।' अर्थात् 'खलु' इस निपात का प्रयोग भी प्रतिषेध अर्थ में किया जाता है, जैसे– खलु कृत्वा (कार्य न करके), खलु कृतम् (कार्य नहीं किया गया) यहाँ पर 'खलु' निपात का प्रयोग निषेध अर्थ में किया गया है।

पुनः यह 'खलु' निपात पादपूर्ति के लिये भी प्रयुक्त होता है–**'अथापि पादपूरणः'**, जैसे – 'एवं खलु तद्बभूव' (यह कार्य इस प्रकार हुआ) यहाँ पर 'खलु' निपात पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है, अतः इसका कोई भी अर्थ नहीं है।

'शश्वत्' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'शश्वत्' निपात की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं कि **"शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। शश्वेदममित्यनुपृष्टे एवं शश्वदित्यस्वयंपृष्टे।"** अर्थात् 'शश्वत्' यह निपात लोकभाषा में संशय (सन्देह) अर्थ में प्रयुक्त होता है।

– पुनः 'शश्वत्' निपात का प्रयोग 'एवम्' इस शब्द से पूर्व में होता है तो यहाँ अनुप्रश्न अर्थ में इसका प्रयोग होता है, जैसे 'शश्वदेवम्' (क्या यह सच में ऐसा है) यहाँ पर 'एवम्' से पूर्व में 'शश्वत्' निपात का प्रयोग हुआ है अतः यह अनुप्रश्न अर्थ में प्रयुक्त है।

– पुनः जब 'शश्वत्' निपात का प्रयोग 'एवम्' शब्द के बाद में हो तो उसे "दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर उसके उत्तर" के अर्थ में समझना चाहिये, जैसे–'एवं शश्वत' (हाँ, ऐसा है) यहाँ 'शश्वत' निपात का प्रयोग किसी दूसरे द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर 'हाँ ऐसा है' इस प्रकार के उत्तर के अर्थ में हुआ है।

'नूनम्' निपात की सोदाहरण व्याख्या

'नूनम्' निपात की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं कि– **"नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च।"** अर्थात् 'नूनम्' यह निपात लोकभाषा में सन्देह अर्थ वाला है किन्तु वैदिकभाषा में यह सन्देहार्थक होने के साथ-साथ पादपूरक भी है। यास्क ने सन्देहार्थक 'नूनम्' निपात का उदाहरण दिया है।

नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।

अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति।। (ऋ. 1/170/7)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है आज तो यह हवि मेरे लिये नहीं मिली है। जो हवि आज मुझे नहीं मिली वह कल भी नहीं मिलेगी। जो नहीं हुआ अर्थात् भविष्य में होगा उसको कौन जानता है? अस्थिर बुद्धि वाले का चित्त अत्यधिक चंचल होता है उसका अभिप्रेत पदार्थ विनष्ट हो जाता है।

इस उदाहरण में 'नूनम्' का प्रयोग सन्देह अर्थ में हुआ है। इन्द्र को यह सन्देह हो गया है कि जो हवि आज मुझे नहीं मिल रही है, वह कल मिलेगी, यह निश्चित रुप से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अस्थिर व्यक्तियों का मन चंचल होता है।

पादपूरणार्थक 'नूनम्' निपात का उदाहरण –

नूनं सा ते प्रति वरं चरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः।।(ऋ.2/11/21)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है– हे इन्द्र! धन से युक्त दान स्तुति करने वाले स्तोता के लिये श्रेष्ठ को दोहन करें, स्तोताओं के लिये फल दीजिये। हम लोगों के शत्रुओं को मत दीजिये। हम लोगों के लिये ऐश्वर्य होवे, जिससे अपने घर में आपका स्तुतिगान करें और हम उत्तम सन्तान वाले होवें। इस मन्त्र में 'नूनम्' निपात का प्रयोग पादपूर्ति के लिये हुआ है इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है।

'सीम्' निपात की सोदाहरण व्याख्या – निरुक्तकार 'सीम्' निपात की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि–**"सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।"** अर्थात् 'सीम्' यह निपात परिग्रह अर्थ वाला होता है तथा इसका प्रयोग पादपूर्त्ति के लिये भी होता है। 'सीम्' निपात का उदाहरण देते हुए निरुक्तकार लिखते हैं –

प्रसीमादित्यो असृजत् (ऋ. 2/28/4)

इस मन्त्रांश में 'सीम्' इस निपात को पादपूरक मानने पर मन्त्र का अर्थ होगा– 'आदित्य ने अपनी किरणों को प्रकृष्ट रूप से बिखेर दिया' और 'सीम्' को परिग्रहार्थ वाला मान लेने पर मन्त्रांश का अर्थ होगा–'आदित्य ने अपनी किरणों को सभी ओर प्रकृष्ट रूप से बिखेर दिया।' इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में 'सीम्' के पादपूरक और परिग्रहार्थ दोनों अर्थसंगत होते हैं।

'त्व' निपात की सोदाहरण व्याख्या – 'त्व' निपात की व्याख्या के प्रसंग में यास्क लिखते हैं कि **"त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्। अर्थनामेत्येके।"** अर्थात् 'त्व' निपात पृथक्करण अर्थ वाले सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त होता है जो अनुदात्त होता है। कुछ आचार्य 'त्व' को 'अर्ध' अर्थ का वाचक मानते हैं। यास्क ने 'त्व' को प्रतिपदिक (नाम) माना है जो पृथक्करणार्थक सर्वनाम है और उसका स्वर अनुदात होता है, जैसे –

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्यो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमितीत तु त्वः।। (ऋ. 10/71/11)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि ऋत्विजों में से एक पुष्टि करने वाला होता नामक ऋत्विक् ऋचाओं की पुष्टि (वृद्धि) करता हुआ बैठता है। अर्थात् यज्ञ में ऋचाओं का उचित प्रकार से अभीष्ट उच्चारण करता है। दूसरा एक उद्‌गाता नामक ऋत्विक् शक्वरी नामक छन्दों में गायत्री छन्द को गाता हैं। अन्य एक ब्रह्मा नामक ऋत्विक् यज्ञ में होने वाली त्रुटि के प्रायश्चित को बतलाता है और एक अध्वर्यु नामक ऋत्विक् यज्ञ के सम्पूर्ण परिमाण (कर्तव्य) को विशेष रूप से सम्पादित करता है। इस मन्त्र में 'त्व' इसका प्रयोग पृथक्करण अर्थात एक ऋत्विक् को दूसरे ऋत्विक् से पृथक् करने के अर्थ में हुआ है।

–पुनः 'त्वत्' का प्रयोग समुच्चय अर्थ में भी होता हैं **जैसे ''पर्याया इव त्वत् आश्विनम् = आश्विनश्च पर्यायाश्च''** यहाँ 'त्वत्' पद 'आश्विन्' और 'पर्याया' इनके समुच्चय हेतु प्रयुक्त हुआ है।

16.3.3 पादपूरक निपात

पादपूरक निपातों का निरूपण करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं कि–**"अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेथवनर्थकाः" 'कमीमिदु' इति"।** अर्थात् अब पादपूरक निपात कहे जा रहे हैं

जो अर्थ के पूर्ण हो जाने पर असीमित अक्षरों (गद्य) वाले ग्रन्थों में वाक्य की पूर्ति करने वाले पद के रूप में प्रयुक्त होते हैं वे ही सीमित अक्षर वाले गन्थों में पाद की पूर्ति करने वाले कहलाते हैं और वे अर्थविहीन होते हैं।

गद्य ग्रन्थ असीमित अक्षर वाले होते हैं। इसके वाक्यों में अक्षरों की सीमा का निर्धारण नहीं होता। किसी वाक्य में अक्षरों की संख्या कम हो सकती है और किसी में अधिक इसीलिये गद्यग्रन्थों को यहाँ अमिताक्षर ग्रन्थ कहा गया है, किन्तु पद्य ग्रन्थों में अक्षरों की सीमा निर्धारित है। इस पद्य में उस निर्धारित सीमा से अधिक या कम अक्षरों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। अतः पद्य को यहाँ मिताक्षर कहा है।

पादपूरक निपात का प्रयोग केवल पद्य में अक्षरों की संख्या को नियमित करने के लिये होता है। इस निपात का वहाँ अपना स्वयं का कोई अर्थ नहीं होता है। पादपूरक निपातों में कम्, ईम्, ईत तथा नु इन चार निपातों का निर्देश किया गया है। नीचे चारों निपातों का क्रमशः उदाहरण दिया जा रहा है। चूँकि ऊपर बताया जा चुका है कि इन निपातों का स्वयं का कोई अर्थ नहीं होता अपितु इनका प्रयोग केवल पाद की पूर्ति हेतु किया जाता है। अतः इन निपातों के उदाहरण को ही बतलाया जा रहा है–

'कम्' निपात का उदाहरण –

निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरिलोका वृकादिव।
विभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्।।

उपर्युक्त मन्त्र का भावार्थ है कि– हेमन्त ऋतु में अत्यधिक पाला (सर्दी) पड़ता है। इस कारण वस्त्रविहीन और अधिक सन्तान वाले लोग भेडियों के समान उससे भयभीत हो जाते हैं और उससे कुछ गर्म रहने वाली शिशिर ऋतु के आगमन के लिये प्रार्थना करते हैं जिससे उसके जीवन की रक्षा हो सके।

मन्त्र में प्रयुक्त 'कम्' निपात पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि 'शिशिर जीवनाय कम्' का अर्थ है– शिशिर जीवन के लिये है। यहाँ प्रयुक्त 'कम्' निपात का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु इसका प्रयोग न करने से मन्त्र के पाद में एक अक्षर की कमी रह जाती है अतः उसकी पूर्ति के लिये 'कम्' का प्रयोग किया गया है।

'ईम्' निपात का उदाहरण–

एमेनं सृजता सुते (ऋ. 1/9/2)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि सवन कार्य में इस अपने अंश को अभिमुख होकर उत्पन्न करो।

इस मन्त्रांश में 'एमेनम् त्र आ ईम् एनम्' में 'ईम्' का कोई अर्थ नहीं है। इसका प्रयोग केवल छन्दपूर्ति के लिये हुआ है।

'ईत्' निपात का उदाहरण –

तमिद् वर्धयन्तु नो गिरः (ऋ.9/61/14)

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि हमारी स्तुतियाँ उस सोम को बढ़ायें। इस मन्त्रांश में 'ईत्' निपात का कोई अर्थ नहीं है। केवल पादपूर्ति के लिये ही इस निपात का प्रयोग हुआ है।

'उ' निपात का उदाहरण –

अयमु ते समतसि (ऋ. 1/30/4)

इस मन्त्रांश का अर्थ है कि यह तुम्हारा सोम है जिसके लिये तुम निरन्तर जाते हो। इस मन्त्रांश में 'उ' निपात पादपूरक है।

निपातसमाहार का निरुपण – निपातसमाहार का तात्पर्य है कि दो या दो से अधिक निपातों का समूह। जब दो या दो से अधिक निपातों का प्रयोग मन्त्र में एकसाथ किया जाता है तो वे निपात मिलकर किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। प्रत्येक निपात अपने स्वतन्त्र अर्थ का बोधक न होकर निपात समुदाय किसी विशिष्ट अर्थ के बोधक होते हैं।

'न' तथा 'इत्' निपातों का समाहार – 'न' तथा 'इत्' निपातों के समाहार के वर्णन प्रसंग में निरुक्तकार लिखते हैं कि –**"अथापि नेत्येष इदित्यनेन सम्प्रयुज्यते परिभये।"** अर्थात् 'न' यह निपात 'इत्' इस निपात के साथ मिलकर परिभय अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे –

हविभिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्तयो नरकम्पताम्।।

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है कि– कुछ लोग इस लोक से हविष के द्वारा यज्ञों में हवि देकर स्वर्गलोक को जाते हैं, कुछ लोग सोम के रस को निकालते हुए स्वर्गलोक को जाते हैं, कुछ लोग स्तुतियों के द्वारा देवताओं को सन्तृप्त (प्रसन्न) करते हुए स्वर्ग को जाते हैं और कुछ लोग दक्षिणा दान द्वारा स्वर्ग को जाते हैं। ऐसा न हो कि कुटिलाचरण करती हुई हम स्त्रियाँ नरकलोक में गिर जायें।

इस मन्त्र में 'न' निपात 'ईत्' के साथ मिलकर परिभयार्थक हो गया है। कुटिलाचरण वाली स्त्रियों के सभी प्रकार से भयभीत हो जाने का कथन इसके द्वारा हुआ है जिससे वे नरक में जाने के भय से सदाचरण करने का निश्चय करती हैं।

'न', 'च' तथा 'इत्' निपातों का समाहार–

'न', 'च' तथा 'इत्' इन निपातों के समाहार का वर्णन करते हुए यास्क लिखते हैं कि "अथपि नच इत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्येतऽनुपृष्टे– न चेत्सुरां पिबन्ति इति।" अर्थात् 'नच' यह निपात समूह 'इत्' इस निपात के साथ अनुप्रश्न अर्थ में प्रयुक्त होता है,जैसे– न चेत्सूरां पिबन्ति इति' इसका अर्थ है कि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को पूछते हुए कहता है कि– यदि शराब नहीं पीते हैं तो आ जायेंगे। यहाँ पर 'नच' तथा 'इत्' इन निपातों का समूह अनुप्रश्न अर्थ को बता रहा है।

16.4 सारांश

इस इकाई में आपने यास्क प्रणीत निरुक्त में वर्णित नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात में से निपात के विषय में जाना। इस इकाई में सर्वप्रथम निपात के लक्षण का अध्ययन करने के उपरान्त उपमार्थक, अर्थोपसंग्रहार्थक तथा पादपूरक के भेद से निपात के तीन भेदों को हमने जाना। निपातों के तीन विभाग करने के पश्चात् सर्वप्रथम उपमार्थक निपातों का वर्णन करते हुए बताया गया कि 'इव, न, चित तथा नु' ये चार निपात उपमार्थक होते हैं। इनमें 'नु' यह निपात उपमार्थक होने के साथ-साथ हेत्वर्थ एवं अनुप्रश्नार्थ भी है। उपर्युक्त चार उपमार्थक निपातों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट निपातों का भी विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, जैसे– कर्मोपमा निपात, भूतोपमा निपात, रूपोपमा निपात तथा सिद्धोपमा निपात।

उपमार्थक निपातों की सोदाहरण व्याख्या करने के उपरान्त इस इकाई में अर्थोपसंग्रहार्थक निपातों की उदाहरण सहित व्याख्या की गयी है। अर्थोपसंग्रहार्थक निपातों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि जिस निपात के आगम से अर्थ की पृथकता तो विशेष रूप से ज्ञात होती है किन्तु विग्रह द्वारा ही पृथकता होने के कारण अर्थ के समान नहीं होती, वे अर्थोपसंग्रह निपात कहलाते हैं। अर्थोपसंग्रहार्थक निपातों के वर्णन क्रम में 'च-आ-वा-अह-ह-उ-हि' इत्यादि निपातों की अर्थनिर्देशपूर्वक सोदाहरण व्याख्या की गयी है।

अर्थोपसंग्रहार्थक निपातों की व्याख्या के उपरान्त निपातों के तृतीय भेद पादपूरणार्थक निपातों का विवेचन किया गया है। पादपूरणार्थक निपातों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इन निपातों का कोई स्वयं का विशेष अर्थ नहीं होता है अपितु इनका प्रयोग केवल पादपूर्ति अर्थात् छन्द की पूर्ति हेतु किया जाता है अर्थात् इस प्रकार के निपात का प्रयोग केवल पद्य में अक्षरों की संख्या को नियमित करने के लिये होता है। पादपूरणार्थक निपातों के अन्तर्गत 'कम्, ईम् तथा उ' इन चार प्रकार के निपातों की सोदाहरण व्याख्या की गयी है।

अर्थोपसंग्रहार्थक निपातों का निरूपण करने के उपरान्त निपातसमाहार का विवेचन किया हैं निपातसमाहार से तात्पर्य है कि जब दो या दो से अधिक निपातों का प्रयोग मन्त्र में एकसाथ किया जाता है तो वे निपात मिलकर किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। प्रत्येक निपात अपने स्वतन्त्र अर्थ को बोधक न होकर निपातसमुदाय किसी एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं।

इकाई के अन्त में कुछ कठिन शब्दों के अर्थ को भी बताया गया है। उसके उपरान्त छात्रों को अपने अधिगम अर्थात् ज्ञान का परीक्षण करने के लिये कुछ महत्त्वपूर्ण अभ्यास प्रश्नों का भी उल्लेख किया गया है।

16.5 शब्दावली

पुरस्तात् – आगे

प्रतिषेधति – निषेध करता है

ब्रूयात् – बोलता है

दधिचित् – दधि के समान

कुल्माषः – अधपका गेहूँ

आहर – लाना / ग्रहण करना

वयाः – शाखायें

वृत्रहन् – इन्द्र

करिष्यति – करेगा

विचिकित्सा – संशय

परिग्रह – ग्रहण करना / घेरना

आदित्य – सूर्य

समुच्चय – समूह

पिबन्ति – पीते हैं

इकाई 17 शब्दों की निरुक्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय विभागपूर्वक व्युत्पत्ति ज्ञान कर सकेंगे।
- विभिन्न शब्द किन-किन अर्थों के वाचक हैं? इसका अध्ययन कर सकेंगे।
- कौन सा शब्द वेद में किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? इसका बोध कर सकेंगे।
- विभिन्न शब्दों के कितने निर्वचनों का प्रतिपादन निरूक्तकार ने किया है? इसका अध्ययन कर सकेंगे।
- विभिन्न संख्यावाची शब्दों की निरुक्तियों का अध्ययन कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

वैदिक शब्दों का निर्वचन अर्थात् अर्थ का निर्णय करने वाला वेदांग निरुक्त है। अभी एकमात्र यास्क रचित निरुक्त उपलब्ध होता है यह वैदिक शब्दों के पांच अध्याय वाले संग्रह 'निघण्टु' की व्याख्या है। यास्क का समय 800 ई०पू० से 700 ई०पू० के बीच रखा जाता हैं 'निघण्टु' जिस पर व्याख्या रूप निरुक्त आश्रित है, पांच अध्यायों का वैदिक शब्द संग्रह है। यह तीन काण्डों में विभक्त है– नैघण्टुककाण्ड, नैगमकाण्ड तथा दैवतकाण्ड। नैघण्टुककाण्ड में तीन अध्याय हैं जिनमें पर्याय शब्दों का संग्रह है जैसे पृथ्वीवाचक 21 शब्द, मेघवाचक 30 शब्द इत्यादि। यास्क ने निरुक्त के प्रथम से तृतीय अध्याय तक इन संग्रहों के प्रतिनिधि शब्दों की व्याख्या सोदाहरण की है इसीलिये निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों को भी 'नैघण्टुककाण्ड' कहा जाता है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में पदों के चार भेद, नामों का आख्यातज होना, निरुक्त के उद्देश्य, अर्थज्ञान की प्रशंसा आदि निर्दिष्ट करके निघण्टु की व्याख्या की भूमिका दी गयी द्वितीय अध्याय के आरम्भ में निर्वचन के सिद्धान्त तथा शास्त्र के अधिकारी के निरूपण करने के बाद ही निघण्टु के पदों की व्याख्या का उपक्रम हुआ है। निघण्टु का चतुर्थ अध्याय 'नैगमकाण्ड' है जिसमें वेदों से संकलित क्लिष्ट एवं स्वतन्त्र पदों का संग्रह तीन खण्डों में किया गया है। इन खण्डों की व्याख्या उदाहरण सहित निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम तथा छठें अध्याय में क्रमशः हुई है निरुक्त के इस अंश को 'नैगमकाण्ड' कहा गया है। निघण्टु के पंचम अध्याय में देवतावाचक शब्द छः खण्डों में

16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।
2. 'निरुक्तम्' सम्पादक – डॉ. जमुना पाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
3. 'निरुक्तम्' (निरुक्तविवृत्ति सहितम्), टीकाकार – मुकुन्द झा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
4. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, सम्पादक – गोविन्दाचार्य, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
5. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा टीका), सम्पादक – गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

16.7 अभ्यास प्रश्न

1. उपमार्थक निपात कौन से हैं? सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. अर्थोपसंग्रहार्थक निपात को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
3. पादपूरक निपात से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
4. कर्मोपमा निपात का विवेचन कीजिए।

संकलित है। इसे दैवतकाण्ड कहते हैं। निरुक्त के सप्तम से द्वादश अध्याय तक इन नामों की व्याख्या है, यह व्याख्या भाग भी 'दैवतकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ भी सप्तमाध्याय के आरम्भ में देवताओं के विषय में विस्तृत जानकारी दी गयी है। तदुपरान्त व्याख्या का उपक्रम हुआ है। अध्याय 13-14 परिशिष्ट के रूप में है। इस प्रकार निरुक्त 14 अध्यायों वाला निघण्टु का व्याख्या ग्रन्थ है।

निरुक्त की रचना का मुख्य उद्देश्य वेदमन्त्रों की निर्वचनपरक व्याख्या करना तथा देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करना है। वेदों की प्रथम व्याख्या तथा देवता विज्ञान को व्यवस्थित करने में यास्क का स्थान अग्रगण्य है। निरुक्त के निर्वचन को विद्वानों ने वर्णागम वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्णनाश तथा धातु का शब्द के प्रधान अर्थ से सम्बन्ध बताना– इन पांच रूपों में देखा है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

निरुक्त भाषाशास्त्र, अर्थविज्ञान एवं निर्वचनशास्त्र का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है। निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है फिर भी वह स्थान-स्थान पर इतना दुरूह है कि विद्वान् टीकाकारों को भी उसका अर्थ समझने के लिये अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है। भाषा की दुरूहता के साथ उसके पाठ भी बहुत जगह भ्रष्ट हैं कि विद्वान् टीकाकार भी कठिनता का अनुभव करते हैं।

निरुक्त जिस आधार पर प्रवृत होता है अर्थात् प्रत्येक संज्ञा पद धातु से व्युत्पन्न हुआ है– यह आधार नितान्त वैज्ञानिक है। इसी को वर्तमान में भाषाविज्ञान के नाम से जाना जाता है। इसका प्रादुर्भाव पाश्चात्य जगत् में 100 वर्ष के अन्दर ही हुआ है और वह भी संस्कृत भाषा के यूरोप में प्रचार होने के बाद परन्तु 3000 वर्ष पहले वैदिक ऋषियों ने इस शास्त्र के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक रीति से निरूपण किया था। भाषाशास्त्र के इतिहास में भारतवर्ष ही इसका मूल उद्गम स्थान है।

जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि निरुक्त में वैदिक शब्दों का निर्वचन किया गया है। इस इकाई में हम कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों के निर्वचन को जानेंगे।

17.2 शब्दों की निरुक्तियाँ

गौ –

- **'यद् दूरं गता भवति'** अर्थात् पृथ्वी को गौ इसलिये कहा जाता है कि वह दूर तक फैली हुई है। अथवा सूर्य से दूर-दूर गति करती (घूमती) है। यह गो शब्द कर्ता कारक है।
- **'यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति'** अर्थात् इस पृथ्वी पर प्राणी लोग विचरण करते हैं, अतः गो कहलाती है। यहाँ गो शब्द अधिकरण है।
- **'अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव'** अर्थात् जिस प्रकार पृथ्वीवाचक गो शब्द कर्त्ता और अधिकरण दोनों कारकों में गम् और गाङ् दोनों धातुओं से उणादि 'डो' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ उसी प्रकार पशु नाम वाला गो शब्द भी निष्पन्न होता है।

- गो से तद्धित करने पर जो अर्थ निकलता है वह केवल गो से ही घोतित हो जाता है। जैसे – 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ 9.56.4) में गो शब्द दूध का वाचक है।
- **'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि'** (ऋ 10/94/9) अर्थात् सोमरस को गो में निचोड़ते हुए बैठा है। यहाँ गो शब्द का प्रयोग सवन किये गये सोमरस को रखने के पात्र-विशेष के लिये किया गया है।
- **'ज्यादि गौरुच्यते'** अर्थात् धनुष की डोरी को भी गौ कहा जाता है।
- **'आदित्योऽपि गौरुच्यते'** अर्थात् आदित्य को भी 'गौ' पद के द्वारा जाना जाता है, जैसे – उतादः परुषे गवि (ऋ 6/56/3) इस मन्त्र में 'गवि' का निर्वचन आदित्य (सूर्य) करने पर मन्त्रार्थ होता है कि उत और अद उस रात-दिन रूपी पर्व वाले कवि = आदित्य में विद्यमान है।
- **'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः'** (शु.य. 18/40), सोऽपि गौरुच्यते अर्थात् सुषुम्ना जो कि सूर्य की किरण विशेष है जिसे चन्द्रमा धारण = ग्रहण करता है वह सूर्य कि सुषुम्ना नामक किरण भी गौ कही जाती है।
- **'सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते'** अर्थात् सूर्य की सभी किरणों को 'गावः' इस निर्वचन के द्वारा जाना जाता है।
- **'गातेर्वौकारो नामकरणः'** अर्थात् गत्यर्थक गाङ् धातु से कर्त्ता अथवा अधिकरण में उणदि 'डो' प्रत्यय से गो शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि वह (पृथ्वी) दूर तक फैली होती है अथवा इस पर सभी प्राणी विचरण करते हैं। अतः 'गौ' शब्द का प्रयोग पृथ्वी के लिये किया गया है।

आचार्य –

- **'आचार्यः आचारं ग्राहयति'** अर्थात् आचार्य शिष्य को आचार सद्व्यवहार ग्रहण कराता है अर्थात् उसे सदाचार सिखलता है।
- **'आचिनोत्यर्थान्'** अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों या व्यावहारिक ज्ञान को चुनकर अपने शिष्यों के लिये संग्रह करता है।
- **'आचिनोति बुद्धिम्'** अर्थात् शिष्य की बुद्धि का चयन (परीक्षण) करता है।

समुद्र –

- **'समुद्द्रवन्ति अस्मादापः'** अर्थात् इस समुद्र से जल लहरों अथवा वाष्प के रूप में ऊपर को उठते हैं, अतः इसे समुद्र के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार यह शब्द 'सम्' और 'उत्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'द्रु' धातु से निष्पन्न होता है।
- **'समभिद्रवन्त्येनमापः'** अर्थात् इस समुद्र में नदियों द्वारा चारों ओर से जल एकत्रित करके लाया जाता है अतः यह समुद्र कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द 'सम्' और 'अभि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'दु' धातु से निष्पन्न होता है।
- **'सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि'** अर्थात् समुद्र में जलचर प्राणी आनन्दित होते हैं अथवा निवास करते हैं, अतः समुद्र कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'मुद्' धातु से उणादि 'खन' प्रत्यय (उणादि 2/13) से निष्पन्न होता है।

- **'समुदको भवति'** अर्थात् यह अधिक जल वाला होता है अतः समुद्र कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'उदक' से छान्दस मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय (पा॰ 5/2/107) होकर तथा उदक को उदन् आदेश करके समुन्दर-समुद्र बनता है।
- **'समुन्नतीति'** वा अर्थात् अच्छी प्रकार से भिगो देता है अतः समुद्र कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक क्लिन्नार्थक 'उन्दी' धातु से 'रक्' प्रत्यय होकर बनता है।

आदित्य –

- **'आदत्ते रसान्'** अर्थात् आदित्य सभी पदार्थों के रसों को अपनी किरणों के द्वारा आहरण/ग्रहण करता है अतः आदित्य कहलाता है। इस प्रकार 'आ' उपसर्गपूर्वक दानार्थक दा धातु से 'यक्' प्रत्यय और 'दा' को 'दद्' आदेश होकर आदित्य शब्द सिद्ध होता है।
- **'आदत्ते भासं ज्योतिषाम्'** अर्थात् चन्द्रादि नक्षत्रों के प्रकाश को हरण कर लेता है अतः आदित्य कहलाता है।
- **'आदीप्तः भासा'** अथवा आदित्य अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है अतः आदित्य कहा जाता है। इस प्रकार आदित्य शब्द 'आ' उपसर्गपूर्वक प्रदीप्त्यर्थक 'दीप्' धातु से 'यक्' प्रत्यय होकर आदाय्य–आदित्य सिद्ध होता है।
- **'अदितेः पुत्रः इति वा'** अर्थात् अदिति का पुत्र होने के कारण आदित्य कहलाता है।

उषस् –

'उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः' अर्थात् उषा अन्धकार को निवारित करती हुई रहती है अर्थात् अन्धकार को दूर भगाती है। इस प्रकार यह शब्द विवासनार्थक 'उच्छी' धातु से 'असि' प्रत्यय और किद्भाव (उणादि 4-334) होकर निष्पन्न होता है।

वाक् –

'वाक् कस्मात्? वचेः' अर्थात् वच् धातु से निष्पन्न होने के कारण इसे वाक् कहा जाता है। इस प्रकार यह शब्द 'वच्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय और दीर्घ होकर बनता है। इसके द्वारा बोला जाता है अतः वाक् कहा जाता है।

नदी –

'नद्यः कस्मात्? नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः' अर्थात् ये नदियाँ ध्वनि करने वाली होती हैं। ध्वनि करती हुई बहती हैं, अतः नदी कहलाती है। इस प्रकार ध्वन्यर्थक नद् धातु से 'घञ्' और स्त्रीलिंग में 'ङीप्' प्रत्यय होकर नदी शब्द निष्पन्न होता है।

अश्व –

- **'अश्वः कस्मात्? अश्नुते अध्वानम्'** अर्थात् यह गन्तव्य मार्ग को व्याप्त कर लेता है अतः अश्व कहा जाता है। इस प्रकार यह शब्द व्याप्त्यर्थक 'अशूङ्' धातु से उणादि क्वन् प्रत्यय (1.151) होकर निष्पन्न होता है।

- **'महाशनो भवतीति वा'** अर्थात् अधिक खाने वाला, होता है अतः अश्व कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द भोजनार्थक 'अशु' धातु से 'क्वन्' प्रत्यय होकर बनता है।

अग्नि –

- **'अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति'** अर्थात् यह अग्रणी होता है। यह मनुष्यों का इतना अधिक उपकार करता है कि सभी देवों में प्रमुख हो जाता है, अतः अग्नि कहलाता है।
- **'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'** अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी कार्यों में यह सबसे पहले लाया जाता है। यज्ञों में सबसे आगे लाये जाने के कारण अग्रणी होता है, अतः अग्नि कहलाता है।
- **'अङ्गं नयति सन्नममानः'** अर्थात् यह तृण, काष्ठ इत्यादि को आश्रय देता हुआ भी उसे अपना अङ्ग बना लेता है, अतः अग्नि कहलाता है। जिस भी किसी पदार्थ को अग्नि में रखा जाता है उसे जलाकर अथवा बिना जलाये अपने समान सन्तप्त अथवा दिप्तिमान् बना देता है। अङ्गं नयतीति अङ्गनी–अग्नि।
- **'अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः** 'अर्थात् स्थौलाष्ठीवि आचार्य के अनुसार यह अक्नोपम (रूखा या शुष्क) बना देने वाला होता है, अतः अग्नि कहलाता है। इस प्रकार 'नञ्' पूर्वक स्नेहार्धक क्नुषी धातु से 'किन्' प्रत्यय होकर अहनी-अग्नि बनता है।
- **'त्रिभ्य आख्यातेभ्य जायत इति शाकपूणि, इतात् अक्तात् दग्धाद्वा नीतात्'** अर्थात् शाकपूणि आचार्य के अनुसार इण् अञ्जू अथवा दह् तथा णीञ् इन तीनों धातुओं से अग्नि शब्द बना है, क्योंकि अग्नि गतिशील, पदार्थव्यञ्जक दाहक और गतिप्रदान करने वाला है। 'इण्' धातु से अकार 'अञ्जू' या 'दह्' धातु से दकार और 'णीञ्' से नी लेकर अग्नि शब्द निष्पन्न होता है।

निघण्टु–

- **'ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः'** अर्थात् उपमन्यु आचार्य के अनुयायियों के अनुसार निश्चय के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों के अवबोधक होने के कारण निगन्तु होते हुए निघण्टु कहे जाते हैं। इस प्रकार 'नि' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु से उणादि सूत्र (1.69) से 'तुन्' प्रत्यय करने पर 'निगन्तु' होता है। इस दशा में निगन्तु के गकार के स्थान पर घकार और तकार के स्थान पर टकार होकर 'निघण्टु' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है– निश्चय के साथ अर्थावबोध कराने वाला।
- **'अपि वाऽऽहननादेव स्युः समाहता भवन्ति'** अर्थात् मर्यादापूर्वक सम्यक् प्रकार के पढ़ा गया हुआ होने के कारण निघण्टु कहा जाता है। इस प्रकार सम्+आ उपसर्गपूर्वक पठनार्थक हन् धातु से तुन् प्रत्यय होकर समाहन्तृ = समाहन्तु शब्द निष्पन्न होता है। यास्क के अनुसार सम् और निर् उपसर्ग समानार्थक है– निरित्येष समित्येतस्य स्थाने युज्यते (नि. 12/7)। इस प्रकार निर् और आ उपसर्गपूर्वक पठनार्थक हन् धातु से तुन् प्रत्यय लगकर निर्हन्तु पद निष्पन्न होता है जिसमें आ उपसर्ग की अविद्यमानता है। इस निर्हन्तु में भी रेफ की अविद्यमानता, हकार के स्थान पर घकार तथा तकार के स्थान पर टकार होकर निघण्टु शब्द होता है जिसका अर्थ है सम्यक् प्रकार से पढ़ा गया।

- **'यद्वा समाहृता भवन्ति'** अर्थात् ये शब्द वेदों से चुन-चुन कर एकत्रित किये गये हैं अतः इन्हे निघण्टु कहा जाता है। इस प्रकार 'सम्' और 'आ' उपसर्गपूर्वक एकत्रित करना अर्थ वाली 'छ' धातु से 'तुन्' प्रत्यय से समाहर्तु शब्द निष्पन्न होता है। सम् के स्थान पर 'निर्' उपसर्ग 'आ' की अविद्यमानता होकर 'निर्हर्तु' शब्द बनता है, जिसमें दोनों रेफों की अविद्यमानता, हकार के स्थान पर घकार, तकार के स्थान पर टकार तथा णकार का आगम होकर निघण्टु शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है– सम्यक् प्रकार से एकत्रित किया गया।

हिरण्य –

- **'ह्रियते आयम्पमानमिति वा'** अर्थात् लम्बा किया जाता हुआ, खींचा जाता है, अतः हिरण्य कहा जाता है।
- **'ह्रियते जनाज्जनम् इति वा'** अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास ले जाया जाता है, अतः हिरण्य कहलाता है।
- **'हितरमणं भवतीति वा'** अर्थात् बड़े-बड़े रोगों मे औषधि के रूप में हितकारी होता है, अतः हिरण्य कहा जाता है।
- **'हृदयरमणं भवतीति वा'** अर्थात् हृदय को रमणीय लगता है, अतः हिरण्य कहा जाता है।
- **'हर्यते वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः'** अर्थात् इच्छार्थक हर्य धातु से निष्पन्न होता है। इस प्रकार हर्य धातु से 'कन्यन् प्रत्यय और उणादि सूत्र (5.44) से' हिरच आदेश होकर हिरण्य निष्पन्न होता है, क्योंकि सभी लोग इसको चाहते हैं, अतः हिरण्य कहलाता है।

अन्तरिक्ष –

- **'अन्तरा क्षान्तं भवति'** अर्थात् पृथिवीलोक और द्युलोक के मध्य में अवस्थित होता है, अतः अन्तरिक्ष कहलाता है।
- **'अन्तरा इमे इति वा'** अर्थात् पृथिवीलोक और द्युलोक के मध्य में होता है अतः अन्तरिक्ष कहलाता है।
- **'शरीरेषु अन्तः अक्षयमिति वा'** अर्थात् प्राणियों के शरीरों में अक्षय रूप से विद्यमान रहता है, अतः अन्तरिक्ष कहलाता है।

रश्मि–

सूर्य की किरणों को और घोड़े की लगाम को रश्मि कहा जाता है रश्मि का निर्वचन है–**'रश्मिर्यमनात्'** अर्थात् नियन्त्रण करने के कारण इसे रश्मि कहा जाता है, क्योंकि सूर्य की रश्मियां जल को तथा घोड़े की रश्मि घोड़े को नियन्त्रित करती है। इस प्रकार यह शब्द नियन्त्रणार्थक 'यम्' धातु से 'इन्' प्रत्यय और 'य' को 'रश' आदेश होकर बनता है।

दिशा–

- **'दिशतेः'** अर्थात् निर्देशार्थक 'दिश्' धातु से दिशा शब्द बनता है, क्योंकि इन्हीं दिशाओं से गतिमार्ग निर्दिष्ट होता है। इस प्रकार 'दिश्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर दिशा शब्द बनता है।

- **'आसदनात्'** अर्थात् सभी पदार्थों के आसन्न में होने के कारण इसे दिक् कहा जाता है।
- **'अपिवाऽभ्यशनात्'** अर्थात् सर्वव्यापक होने के कारण इसे दिक् कहा जाता है।

रात्रि–

- **'प्रमयति भूतानि नक्तञ्चारीणि'** अर्थात् रात्रिचारी प्राणियों को प्रकृष्ट रूप से रमण कराती है। इस कारण प्रमयित्री होने के कारण रात्रि कही जाती है।
- **'उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति'** अर्थात् रात्रिचारियों से अन्य अर्थात् दिवाचारी प्राणियों को विश्राम देती है और स्थिर बनाती है। रात में दिवाचारी प्राणी अपने कार्य से विश्राम करते हैं तथा निद्रा द्वारा स्थिर हो जाते हैं।
- **'रातेर्वा स्थाद्दानकर्मणः'** अर्थात् दानार्थक 'रा' धातु से रात्रि शब्द बना है क्योंकि रात में ही ओस प्रदान की जाती है। इस प्रकार यह शब्द 'रा' धातु से उणादि 'त्रिप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

मेघ –

'मेहतीति सतः' अर्थात् यह जल बरसाकर सींचता है या गीला करता है अतः मेघ कहलाता है। इस प्रकार मेघ शब्द सेचनार्थक 'मिह्' धातु से कर्त्ता अर्थ में घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।

उदक–

'उन्नतीति सतः' अर्थात् यह गीला करता है, अतः उदक कहलाता है इस प्रकार क्लेदनार्थक 'उन्दी' धातु से उणादि 'क्वुन्' प्रत्यय करके उदक शब्द निष्पन्न होता है।

अपत्य–

- **'अपततं भवति'** अर्थात् पिता से अलग होकर वंश को फैलाने वाला होता है अतः अपत्य कहलाता है। इस प्रकार अपपूर्वक विस्तारार्थक 'तनु' धातु से 'यक्' प्रत्यय होकर अपत्य शब्द निष्पन्न होता है।
- **'नानेन पततीति वा'** अर्थात् इसके द्वारा पितृवंश नष्ट नहीं होता है अतः अपत्य कहा जाता है। इस प्रकार नम् पूर्वक 'पत्' धातु से उणादि 'यक्' प्रत्यय होकर अपत्य शब्द बनता है।

मनुष्य–

- **'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति'** अर्थात् ये अत्यन्त सोच-विचार कर कार्यों को करते हैं, अतः मनुष्य कहलाते हैं। इस प्रकार विचारार्थक 'मन' तथा विस्तारार्थक 'षिवु' इन दोनों धातुओं के संयुक्त रूप से बहुल द्वारा औणादिक 'ढ्यन' प्रत्यय होकर मनुष्य शब्द निष्पन्न होता है।
- **'मनस्यमानेन सृष्टाः'** अर्थात् विचार करते हुए अथवा प्रसन्न मन वाले ब्रह्मा के द्वारा ये बनाये गये हैं अतः मनुष्य कहलाते हैं। इस प्रकार प्रशस्त मन वाली 'मनस्' धातु से मनुष्य शब्द बना है।
- **'मनोरपत्यं मनुषो वा'** अर्थात् मनु की सन्तान मनुष्य है अथवा मनुष्य मननशील की सन्तान होने के कारण मनुष्य कहा जाता है। इस प्रकार मनु शब्द से "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" (पा. 4/1/161) सुत्र से 'यत्' प्रत्यय और 'षुक्' का

आगम करने पर मनुष्य बनता है तथा मनष् से केवल 'यत्' प्रत्यय होने पर मनुष्य बनता है।

बाहु –

- **'प्रबाधत आभ्यां कर्माणि'** अर्थात् इन दोनों बाहुओं द्वारा कार्यों को किया जाता है, अतः इन्हें बाहु कहा जाता है। इस प्रकार विलोडनार्थक 'बाध्' धातु से 'उ' प्रत्यय और धकार को हकार आदेश होकर बाहु शब्द बनता है।

अङ्गुलि –

- **'अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा'** अर्थात् ये अङ्गुलियाँ आगे को जाने वाली (निकलने वाली) होती हैं, अतः अङ्गुलियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार अग्रपूर्वक 'गम्' धातु से बहुल द्वारा औणादिक डुलि प्रत्यय करके अङ्गुलि शब्द बनता है।
- **'अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा'** अर्थात् आगे से जल टपकाने वाली होती है, अतः अङ्गुलियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार यह शब्द अग्रपूर्वक स्वणार्थक 'गल्' धातु से 'डुलि' प्रत्यय होकर अङ्गुलि निष्पन्न होता है।
- **'अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा'** अर्थात् सभी कार्यों में आगे-आगे करने वाली होती हैं अतः अङ्गुलियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार अग्रपूर्वक करणार्थक 'कृ' धातु से 'डुलि' प्रत्यय करके अङ्गुलि शब्द निष्पन्न होता है।
- **'अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा'** अर्थात् सभी कार्यों में अग्रसर होती हैं अतः अङ्गुलि कही जाती हैं। इस प्रकार यह शब्द अग्रपूर्वक प्रस्रवणार्थक 'सृ' धातु से 'डुलि' प्रत्यय लगकर अङ्गुलि शब्द बनता है।
- **'अङ्कना भवन्तीति वा'** अर्थात् ये चिह्न बनाने वाली होती हैं इन अङ्गुलियाँ से चिह्न बनाया जाता है, अतः ये अङ्गुलि कही जाती हैं। इस प्रकार लक्षणार्थक 'अकि' धातु से 'डुलि' प्रत्यय करके अङ्गुलि शब्द बनता है।
- **'अञ्चना भवन्तीति वा'** अर्थात् ये पूजा करने वाली होती हैं इनसे पूजा की जाती है अतः ये अङ्गुलि कही जाती हैं। इस प्रकार अङ्गुलि शब्द पूजार्थक 'अञ्च्' धातु से 'डुलि' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।
- **'अपि वाभ्यञ्चनादेव स्युः'** अर्थात् ये प्रत्येक कार्य के अभिमुख होने के कारण अङ्गुलि कही जाती हैं। इस प्रकार 'अञ्च्' धातु से 'डुलि' प्रत्यय होकर अङ्गुलि शब्द निष्पन्न होता है।

अन्न–

- **'आनतं भूतेभ्यः'** अर्थात् यह प्राणियों के लिये झुका होता है, इसलिये अन्न कहलाता है। इस प्रकार अन्न शब्द 'आ' पूर्वक 'नम्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।
- **'अत्तेर्वा'** अर्थात् अन्न भक्षणार्थक 'अद्' धातु से बना है, क्योंकि प्राणियों द्वारा यह खाया जाता है। इस प्रकार अद् धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। (उणादि 3.10) में प्राणार्थक 'अन्' धातु से 'न' प्रत्यय होकर 'अन्न' शब्द बनाया गया है क्योंकि यह प्राणियों को जीवित रखता है।

धन–

- **'धिनोतीति सतः** 'अर्थात् तृप्त करने के कारण यह धन कहलाता है। इससे मनुष्य तृप्त होता है। इस प्रकार यह शब्द 'धि' धातु से बहुल द्वारा 'क्यु' (उणादि 2/81) प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

क्षिप्र–

- **'संक्षिप्तः'** अर्थात् यह संक्षिप्त कर लिया गया होता है– कार्य विस्तार से न करके शीघ्र कर लेना क्षिप्र कहलाता है। इस प्रकार यह प्रेरणार्थक 'क्षिप्' धातु से (उणादि 2/23) 'रक्' प्रत्यय होकर बनता है।
- **'विकर्षः'** अर्थात् यह संकुचित किया गया होता है। इस प्रकार भी यह शब्द 'क्षिप्' धातु से 'रक्' प्रत्यय होकर बनता है।

सङ्ग्राम–

- **'सङ्गमनाद्वा'** अर्थात् इसमें लड़ने के लिये वीर एकत्रित होते हैं, अतः यह संग्राम कहा जाता है।
- **'सङ्गरणाद्वा'** अर्थात् इसमें योद्धा सङ्गरण (ध्वनि) करते हैं, अतः यह संग्राम कहा जाता है।
- **'सङ्गतौ ग्रामौ इति वा'** अर्थात् इसमें दो समूह लड़ने के लिये एकत्रित रहते हैं, अतः संग्राम कहा जाता है।

अन्तिक–

- **'आनीतं भवति'** अर्थात् यह समीप में लाया हुआ होता है अतः अन्तिक कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द आ पूर्वक ज्ञानार्धक 'नी' धातु से 'तीक्' प्रत्यय होकर बनता है।

एक–

- **'एक इता संख्या'** अर्थात् एक सभी संख्याओं में पहुँची हुई संख्या होती है– एक से सभी संख्यायें विभाजित होती हैं। गत्यर्थक 'इण्' धातु से उणादि 'कत्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

द्वि–

- **'द्वौ द्रुततरा संख्या'** अर्थात् द्वि एक की अपेक्षा यह द्रुततर (आगे गयी हुई) होती है। द्वि गत्यर्थक द्रु धातु से 'ड्वि' (उणादि 5/66) प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

त्रि–

- **'त्रयस्तीर्णतमा संख्या'** अर्थात् त्रि एक और द्वि दोनों से आगे तरने वाली (आगे पहुँचने वाली) संख्या होती है। इस प्रकार गत्यर्थक 'तृ' धातु से 'ड्रि' प्रत्यय लगाकर त्रि शब्द बनता है।

चत्वारः–

- **'चत्वारश्चलिततमा संख्या'** अर्थात् चार बहुत अधिक चलने वाली संख्या होती है। यह शब्द गत्यर्थक 'चल्' धातु से उरस् प्रत्यय (उणादि 5/58) होकर निष्पन्न होता है।

पञ्च –

- **'पञ्च पृक्ता संख्या'** अर्थात् पांच की संख्या जो सम्पृक्त रहती है। इसका तीनों लिंगों में रूप समान होता है।

षट्–

- **'षट् पुनः सहते'** अर्थात् षट् शब्द अभिभूत करना अर्थ वाली 'सह्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके बना है, क्योंकि यह पांचवीं संख्या को अभिभूत करता है।

सप्त–

- **'सप्त सृप्ता संख्या'** अर्थात् सात छः से आगे खिसकी हुई संख्या होती है, अतः सप्त कहलाती है। इस प्रकार खिसकना अर्थ वाली 'सृप्' धातु से कनिन् प्रत्यय और तुट् का आगम (उणादि 1/157) होकर सप्त बनता हो।

अष्ट–

- **'अष्टावश्नोतेः'** अर्थात् अष्ट शब्द व्याप्त्यर्थक अशृङ् धातु से बनता है, क्योंकि यह सभी संख्याओं में व्याप्त रहता है। इस प्रकार यह शब्द अशृङ् धातु से 'कनिन्' प्रत्यय और 'तुट्' का आगम (उणादि 1/157) करके निष्पन्न होता है।

नव–

- **'नव न वननीया'** अर्थात् नव संख्या सेवन करने योग्य नहीं है, अतः नव कही जाती है। इस प्रकार यह शब्द 'नञ्' पूर्वक विभाजनार्थक 'वन्' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

दश–

- **'दश दस्ता'** अर्थात् यहाँ संख्या क्षीण हो जाती है अतः दश कहलाती है– दश अन्तिम संख्या है। इसके बाद संख्याओं के योग से अन्य संख्यायें बनती हैं। इस प्रकार उपक्षयार्थक 'दसु' धातु से 'कनिन्' (उणादि 1/156) होकर दश बनता है।
- **'दृष्टार्था वा'** अर्थात् दृष्ट अर्थ वाली होती है– इसका अर्थ एकादश, द्वादश इत्यादि संख्याओं में दिखलाई पड़ता है, अतः दश कहा जाता है। इस प्रकार 'दृश्' धातु से 'अन्' प्रत्यय होकर दश शब्द बनता है।

विंशतिः –

- **'विंशति द्विदशतः'** अर्थात् विंशति में दश की दो बार आवृत्ति होती है। इस प्रकार द्विदशन् से 'ति' प्रत्यय होकर विंशति निष्पन्न होता है।

शत–

- **'शतं दशदशतः'** अर्थात् दश की दश बार आवृत्ति शत कहलाती है।

सहस्र–

- **'सहस्रं सहस्वत्'** अर्थात् सहस्रं सहस्र (बल) से युक्त होता है–सहस्र के मिल जाने से सभी समूह बलवान् हो जाता है, अतः सहस्र कहा जाता है। इस प्रकार बलवाची 'सहस्र' शब्द से मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर सहस्र निष्पन्न होता है।

अर्बुद–

- **'अर्बुदं मेघः भवति'** अर्थात् अर्बुद मेघ कहलाता है। अर्बुद और अम्बुद– यह दोनों मेघ वाचक हैं। अरणमम्बु अर्थात् अम्बु अरण गमनशील होता है, अतः सभी जगह प्राप्त होता है। इस प्रकार अरण शब्द गमनार्थक 'ऋ' धातु से 'उ' प्रत्यय

और 'बुक' का आगम (उणादि 1/27) होकर अर्बु अम्बु बनता है अतः जल को देने वाला अर्बुद = अम्बुद = मेघ है।

- यह अर्बुद की संख्या 'अम्बुमद् भातीति' अर्थात् मेघ के समान प्रतीत होती है।
- **'अम्बुमत् भवतीति वा'** अथवा मेघ ही होती है।
- **'स यथा महान्बहुर्भवति वर्षस्तदिवार्बुदम्'** अर्थात् जिस प्रकार बरसता हुआ मेघ बहुत विशाल होता है उसी प्रकार अर्बुद भी विशाल होता है।

खल–

- **'खलतेर्वा'** अर्थात् अघनार्थक 'खल्' धातु से बना है, क्योंकि इसमें शत्रु मथ दिये जाते हैं। इस प्रकार 'खल्' धातु से 'ध' प्रत्यय (पा॰ 3/3/118) से खल शब्द निष्पन्न होता है।
- **'स्खलतेर्वा'** अर्थात् हिंसार्थक 'स्खल्' धातु से बना है क्योंकि इसमें शत्रु मारे जाते हैं। इस प्रकार 'स्खल्' धातु से 'ध' प्रत्यय होकर खल् शब्द बनता है।

महान्–

- **'मानेनान्यात्र्जहातीति शाकपूणिः'** अर्थात् शाकपूणि के अनुसार यह मान के द्वारा दूसरे लोगों के पीछे छोड़ देता है अतः महान् कहा जाता है। इस प्रकार 'मा' और 'हा' इन दोनों धातुओं के योग से उणादि अति प्रत्यय होकर महत्-महत् शब्द बनता है।
- **'महनीयो भवतीति वा'** अर्थात् यह महनीय (पूजनीय) होता है अतः महान् कहा जाता है। इस प्रकार महनीयार्थक 'मह्' धातु से उणादि 'अत्' प्रत्यय होकर महत् बनता है।

सुख –

- **'सुहितं खेभ्यः'** अर्थात् यह इन्द्रियों के लिये हितकारक होता है, अतः सुख कहलाता है।
- **'खं खनते'** अर्थात् इन्द्रियवाचक 'ख' खननार्थक 'खन्' धातु से बनता है क्योंकि इन्द्रियों के स्थान खुदे हुए होते है। इस प्रकार 'खन्' धातु में 'ड' प्रत्यय होकर 'ख' निष्पन्न होता है।

सत्य–

- **'सत्सु तायते'** अर्थात् यह सज्जनों में फैला हुआ होता है, अतः सत्य कहलाता है। इस प्रकार 'सत्' से विस्तारार्थक पालितार्थक 'तायृ' लगकर सत्य शब्द निष्पन्न होता है।
- **'सत्प्रभवं भवतीति वा'** अर्थात् यह सज्जनों द्वारा पैदा हुआ होता है अतः सत्य कहा जाता है। इस प्रकार सत् से प्रभव अर्थ में 'अत्' प्रत्यय होकर बना है।

आत्मा–

- **'आत्माततेर्वा'** अर्थात् आत्मा सातत्यगमनार्थक 'अत्' धातु से बना हैः क्योंकि यह सतत् गतिमान रहता है। इस प्रकार आत्मा शब्द 'अत्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय लगकर बनता है।

- **'आप्तेर्वा'** अर्थात् व्याप्त्यर्थक 'आप्लृ' धातु से बनता है, क्योंकि यह सबमें व्याप्त है। इस प्रकार यह शब्द 'आप्लृ' धातु से मनिन् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।
- **'अपि वाप्त इव स्यात्'** अर्थात् यह आप्त (व्याप्त) के समान होता है, क्योंकि यह व्याप्त तो नहीं है किन्तु जितना व्याप्तीभूत है, उससे व्याप्त सा होता है।

सिंह–

- **'सिंहः सहनात्'** अर्थात् अन्य जानवरों को दबाने के कारण यह सिंह कहलाता है। इस प्रकार यह 'सह्' धातु से उणादि 'कन्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।
- **'हिंसेर्वा स्यात् विपरीतस्य'** अर्थात् हिंसार्थक हिंस् धातु से बना है, क्योंकि सिंह सभी को मारने वाला होता है। इस प्रकार 'हिंसि' धातु से 'कन्' प्रत्यय का आद्यन्त विपर्यय होकर सिंह शब्द बनता है।
- **'सम्पूर्वस्य वा हन्तेः'** अर्थात् सम् पूर्वक 'हन्' धातु से सिंह शब्द बनता है, क्योंकि सिंह अच्छी प्रकार से जानवरों को मारता है। इस प्रकार सम् उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु से 'कन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।
- **'संहाय हन्तीति वा'** अर्थात् अपने को संकुचित करके जानवरों को मारता है अतः सिंह कहलाता है।

व्याघ्र –

- **'व्याघ्रो व्याघ्रणात्'** अर्थात् सूँघने के कारण व्याघ्र कहलाता है क्योंकि इसके सूँघने की शक्ति अधिक होती है। इस प्रकार 'वि' और 'आङ्' पूर्वक 'घ्रा' धातु से 'क' प्रत्यय करके व्याघ्र शब्द बनता है।
- **'व्यादाय हन्तीति वा'** अर्थात् एकबार में न मार पाने पर व्याघ्र दूसरी बार अपने शिकार को वापस लाकर मारता है अतः व्याघ्र कहलाता है।

स्तोता–

- 'स्तोता स्तवनात्' अर्थात् स्तुति करने के कारण यह स्तोता कहलाता है, क्योंकि यह स्तुति करता है। इस प्रकार यह स्तुत्यर्थक 'स्तु' धातु से 'तृन' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

17.3 सारांश

इस इकाई में आपने निरुक्त में प्रतिपादित शब्दों के निर्वचनों में से कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों की निरुक्तियों का अध्ययन किया, जैसे गो शब्द का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार का मत है कि गो शब्द पृथिवी का वाचक है क्योंकि वह बहुत दूर तक फैली हुई है। गाय के दुग्ध को भी 'गो' शब्द से जाना जाता है। गो शब्द का प्रयोग सोमरस को रखने वाले पात्र विशेष के लिये भी किया जाता है। धनुष की डोरी, आदित्य, सूर्य की किरण के लिये गो शब्द का प्रयोग होता है। पुनः समुद्र शब्द की निरुक्ति करते हुए पांच प्रकार का निर्वचन किया गया है, जैसे समुद्र में नदियों द्वारा चारों ओर से जल एकत्रित करके लाया जाता है अतः समुद्र कहलाता है। यहाँ आदित्य शब्द की निरुक्ति के प्रसंग में चार प्रकार के निर्वचन का प्रतिपादन किया गया है, जैसे चन्द्रादि नक्षत्रों के प्रकाश को हरण कर लेने के कारण आदित्य कहलाता है। इस इकाई में उषस्, वाक्, नदी शब्दों की एक-एक निरुक्ति बताई गयी है। अश्व शब्द का निर्वचन करते हुए बताया गया है कि यह गन्तत्व मार्ग को व्याप्त कर लेता है

अथवा अधिक खाने वाला होता है अतः अश्व कहलाता है। अग्नि शब्द की निरुक्ति के प्रसंग में यहाँ पाँच प्रकार की निरुक्तियाँ बतलाते हुए कहा गया है कि यह अग्रणी होता है, यह मनुष्यों का इतना अधिक उपकार करता है कि सभी देवों में प्रमुख हो जाता है अतः अग्नि कहलाता है। यहाँ शाकपूणि आचार्य का मत है कि यह गतिशील, दाहक पदार्थ व्यञ्जक और गति प्रदान करने वाला होने का कारण अग्नि कहलाता है। यहाँ निघण्टु के तीन निर्वचन बताये गये हैं, जैसे वेदमन्त्रों के अर्थों का बोधक होने के कारण निघण्टु कहलाता है। मेघ शब्द की निरुक्ति के सन्दर्भ में बताया गया है कि यह जल बरसाकर गीला करता है, अतः मेघ कहलाता है। मनुष्य शब्द का तीन प्रकार का निर्वचन करके बताया गया है कि अत्यन्त सोचकर कार्यों को करते हैं अथवा प्रसन्न मन वाले ब्रह्मा के द्वारा बनाये जाने के कारण अथवा मनु की सन्तान होने के कारण यह मनुष्य कहलाता है। इस इकाई में अन्न, बाहु, अपत्य, धन, क्षिप्र, संग्रामादि विभिन्न शब्दों की निरुक्तियाँ बतायी गयी हैं। अन्त में एक से दश तक तथा विभिन्न संख्यावाचक शब्दों की भी निरुक्तियाँ प्रतिपादित की गयी हैं।

17.4 शब्दावली

आदित्य	–	सूर्य
उषस्	–	प्रातः कालीन वेला
वाक्	–	वाणी
निघण्टु	–	एक ग्रन्थ विशेष
हिरण्य	–	सोना (स्वर्ग)
उदक	–	जल
अपत्य	–	पुत्र
क्षिप्र	–	जल्दी / तत्काल
अन्तिक	–	समीप
सहस्र	–	हजार
अर्बुद	–	अरब
स्तोता	–	स्तुति करने वाला

17.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।
2. 'निरुक्तम्' सम्पादक – डॉ. जमुना पाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
3. 'निरुक्तम्' (निरुक्तविवृत्ति सहितम्), टीकाकार – मुकुन्द झा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
4. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, सम्पादक – गोविन्दाचार्य, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

5. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा टीका), सम्पादक – गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

17.6 अभ्यास प्रश्न

1. 'गो' शब्द की कितनी निरुक्तियों का प्रतिपादन किया गया है?
2. आचार्य शब्द की विभिन्न निरुक्तियों का प्रतिपादन कीजिए।
3. 'समुद्र' शब्द की विभिन्न निरुक्तियों का प्रतिपादन कीजिए।
4. 'अग्नि' शब्द की विभिन्न निरुक्तियों की व्याख्या कीजिए।
5. 'निघण्टु' का निर्वचन क्या है?
6. 'मनुष्य' शब्द के दो निर्वचन लिखिये।